भारत सरकार
GOVERNMENT OF INDIA
राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता।
NATIONAL LIBRARY, CALCUTTA.

वर्ग संख्या
Class No. 353.954
पुस्तक संख्या
Book No. J 273 1h

रा० पु०/N. L. 38.

H7/Dte/NL/Cal/79--2,50,000—1-3-82—GIPG.

राज्यपाल

धर्मचन्द जैन

श्याम प्रकाशन • जयपुर

राष्ट्रीय पुस्तकालय, कलकत्ता
NATIONAL LIBRARY, CALCUTTA
पुस्तक प्रदान अधिनियम. 1954
Delivery of Books Act. 1954
22 MAR 2001

© धर्मचंद जैन

ISBN 81-87247-28-2

संस्करण : द्वितीय, 2001

मूल्य : तीन सौ रुपये

H
353.957
J 2731R

प्रकाशक :
श्याम प्रकाशन
फिल्म कॉलोनी, चौड़ा रास्ता,
जयपुर—302 003

शब्द-संयोजक :
विशाल कम्प्यूटर्स
जयपुर

मुद्रक :
शीतल प्रिन्टर्स
फिल्म कॉलोनी, जयपुर

NATIONAL LIBRARY
No. 74023
Date 30.3.01
CALCUTTA

RAJYAPAL
By : Dharmchand Jain

Price :
Rs. 300

आमुख

भारतीय संघात्मक व्यवस्था में राज्यपाल-पद की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। अत. इस संस्था का अध्ययन करना संवैधानिक और सामयिक दृष्टि से प्रासंगिक बन जाता है। प्रस्तुत पुस्तक में राज्यपाल संस्था के संवैधानिक तथा आचरण-गत पक्ष का अध्ययन किया गया है। पुस्तक में भारत में कम्पनी राज से लेकर नेहरू-युग तक राज्यपाल संस्था के संवैधानिक परिप्रेक्ष्य का विश्लेषण किया गया है। साथ ही पुस्तक में स्वतंत्रता के पश्चात् राज्यपालों के आचरण-गत पक्ष का भी व्याख्यात्मक, विश्लेषणात्मक और समीक्षात्मक रूप से अध्ययन किया गया है। निष्कर्ष रूप में, इस तथ्य को प्रतिपादित किया गया है कि राज्यपाल संस्था को समाप्त करने की आवश्यकता नहीं है। अगर केन्द्र सरकार अपने राजनीतिक स्वार्थों की पूर्ति करने में इस संस्था का दुरुपयोग न करे तो इस संस्था से जुड़े सभी विवादों का समाधान सम्भव है। भारत की संघात्मक व्यवस्था में इस संस्था का कोई विकल्प नहीं है।

प्रस्तुत पुस्तक के लेखन में मैंने भारतीय संविधान के लेखकों, टीकाकारों की रचनाओं, भारतीय शासन और राजनीति के मूर्धन्य लेखकों तथा राज्यपाल संस्था पर लिखी गई पुस्तकों से सहायता ली है। जहाँ तक संभव हुआ, उन ग्रंथों के संदर्भों को स्थान-स्थान पर उद्धृत करने का निष्ठापूर्वक प्रयास किया है। मैं उन सब लेखकों के प्रति हार्दिक आभार प्रकट करता हूँ।

समसामयिक राजनीतिक घटनाचक्र को विश्लेषित करना सदैव ही अत्यन्त दुष्कर कार्य रहा है। इस अध्ययन में राजनीतिक व्यक्तित्वों, दलों और सरकारों की कार्य-शैली पर टिप्पणी करना अपरिहार्य बन जाता है। मैंने अपनी तरफ से अध्ययन करते समय समीक्षात्मक और तटस्थता का दृष्टिकोण अपनाने का प्रयास किया है। आशा है कि इस अध्ययन की प्रासंगिकता और गंभीरता को हृदयंगम करके राजनीतिक व्यक्तित्व, दल और सरकारें उदारता का परिचय देंगे और अपने विरुद्ध की गई समीक्षात्मक टिप्पणी को अन्यथा नहीं लेंगे। अगर अध्ययन में इस प्रकार की समीक्षात्मक टिप्पणियाँ नहीं की जायें तो इसकी कोई प्रासंगिकता और महत्त्व ही नहीं रह जाता है।

मैं सांविधानिक तथा संसदीय अध्ययन संस्थान, नई दिल्ली और राजस्थान पत्रिका समूह, जयपुर का विशेष आभारी हूँ, जिन्होंने राज्यपाल-पद से सम्बन्धित विभिन्न विषयों पर मेरे शोध-लेखों और निबन्धों को प्रकाशित करने और उद्धृत करने की अनुमति प्रदान की। मैं सभी समाचार पत्रों और पत्रिकाओं से ली गई सामग्री तथा समीक्षात्मक टिप्पणियों

के लिए भी उनके सम्पादकों के प्रति आभार प्रकट करता हूँ। पुस्तक-लेखन में उपयोगी परामर्श और सुझाव देने के लिए सभी मित्रों और सहयोगियों को भी धन्यवाद देता हूँ।

इस अवसर पर मैं अपने पूज्य गुरुदेव, अणुव्रत अनुशास्ता और राष्ट्रीय एकता के महान् शिल्पी आचार्यश्री तुलसी और उनके उत्तराधिकारी युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी के प्रति भी हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ, जिनका आशीर्वाद और शुभ-दृष्टि मेरी सबसे बड़ी शक्ति है। यह पुस्तक भारत के महान् दार्शनिक और चिन्तक युवाचार्य श्री महाप्रज्ञजी को समर्पित है।

मैं अपनी महान् मातुश्री दीर्घ तपस्विनी स्व. श्रीमती हुलास बाई के चरणों में भी अपने श्रद्धा-सुमन अर्पित करता हूँ जिनकी प्रेरणा आज भी मेरा पथ-प्रदर्शन करती है।

धर्मपत्नी श्रीमती शकुन्तला, पुत्र धीरेन्द्र और पुत्रियाँ संगीता और श्वेता भी बधाई की पात्र हैं। मैं इस पुस्तक के प्रकाशन हेतु प्रकाशक को भी धन्यवाद देता हूँ। अन्त में, मैं पुस्तक को और अधिक उपयोगी बनाने के लिए दिये जाने वाले सुझावों का स्वागत करूँगा।

'बोराणा हाउस'
23 काशीपुरी,
भीलवाड़ा (राजस्थान)

धर्मचन्द जैन

विषय-सूची

भारत

के

महान् दार्शनिक

युवाचार्य

श्री महाप्रज्ञजी

को

सादर समर्पित

अध्याय - 1

औपनिवेशिक अतीत

संविधान सभा द्वारा राज्यपाल पद के विविध प्रावधानों के निर्धारण करते समय इस संस्था के औपनिवेशिक अतीत को ध्यान में रखा गया। ब्रिटिश शासनकाल में ही क्रमिक रूप से इस संस्था का विकास होता गया। अतः यह कहा जा सकता है कि भारत में राज्यपाल संस्था कोई नवीन संस्था नहीं है, अपितु इसकी जड़ें ब्रिटिश-शासन में निहित हैं।[1] ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन काल से लेकर 1935 ई. के भारत शासन अधिनियम तक की ऐतिहासिक यात्रा में इस पद के संस्थागत और प्रक्रियागत स्वरूप के विकास का क्रम देखा जा सकता है। समय-समय पर पारित किये जाने वाले अधिनियमों ने इस पद के विकास की परिस्थितियाँ उत्पन्न कीं। इस तरह से ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में ही इस संस्था का मूल्यांकन किया जा सकता है।

इस ऐतिहासिक क्रम का विश्लेषण करने से यह बात भी भलीभाँति स्पष्ट हो जाती है कि ब्रिटिश शासन व्यवस्था में राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण थी, और यह संस्था अन्य लोकतांत्रिक संस्थाओं को नियंत्रित और निर्देशित करती थी। इस संस्था द्वारा विभिन्न संस्थाओं पर अनेक प्रकार के आरक्षण और प्रतिबन्ध आरोपित कर दिये गये थे। ब्रिटिश शासकों ने केन्द्रीयकरण की प्रवृत्ति को दृष्टिगत रखकर ही इस संस्था के स्वरूप का विकास किया। राज्यपाल प्रान्तीय प्रशासन में ब्रिटिश हितों की रक्षा करने वाले मुख्य नियन्ता बन गये। राज्यपाल संस्था सम्पूर्ण ब्रिटिश साम्राज्य के निहित स्वार्थों की रक्षा करने वाली मुख्य संस्था थी।[2]

इस पद के ऐतिहासिक विकास क्रम को दो भागों में विभाजित किया जा सकता है—

1. कम्पनी राज का काल 2. ब्रिटिश शासन काल।

कम्पनी राज में राज्यपाल

भारत में बिटिश शासन का प्रारम्भिक स्वरूप ईस्ट कम्पनी के शासन काल में देखने को मिलता है। राज्यपाल संस्था का प्रारम्भिक अभ्युदय ईस्ट इण्डिया कम्पनी के साथ ही जुड़ जाता है। भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल का पद कोई नवीन

संस्था नहीं है। ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना के साथ ही इसकी उत्पत्ति को देखा जा सकता है।[3] ईस्ट इण्डिया कम्पनी के प्रारम्भिक दिनों में राज्यपाल भारत में मूलतः ब्रिटिश व्यापारिक-वाणिज्यिक हितों के संरक्षक थे, और वे बाद में राजनीतिक शक्तियाँ प्राप्त करते गया।[4] ईस्ट इण्डिया कम्पनी की राजनीतिक महत्त्वाकांक्षाओं के बढ़ने के साथ-साथ राज्यपालों की भूमिका भी व्यापारिक से राजनैतिक बनती गई।

31 दिसम्बर, 1600 ई. को ब्रिटिश साम्राज्ञी महारानी एलिजाबेथ प्रथम द्वारा घोषित अधिकार पत्र (रॉयल चार्टर) के फलस्वरूप भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी को व्यापारिक अधिकार प्राप्त हुए। इस अधिकार-पत्र को कम्पनी का संविधान भी कहा जा सकता है। इस चार्टर में राज्यपाल पद की व्यवस्था की गई, जिसमें कम्पनी के सदस्य मिलकर एक राज्यपाल और 24 समितियों का निर्वाचन कर सकते थे।[5] महारानी एलिजाबेथ प्रथम द्वारा एल्डरमेन थामस स्मिथ (Thomas Smith) को प्रथम राज्यपाल (गवर्नर) नियुक्त किया गया।[6] यद्यपि प्रथम राज्यपाल महारानी एलिजाबेथ द्वारा नियुक्त किया गया था, लेकिन कम्पनी की साधारण सभा "कोर्ट" को वार्षिक रूप से उसे निर्वाचित करने का अधिकार प्रदान किया गया। अच्छा-व्यवहार नहीं करने पर उसे हटाया भी जा सकता था।[7] राज्यपाल को उसके कार्यों में सहायता देने के लिए एक 24 सदस्यीय समिति और उपराज्यपाल की भी व्यवस्था की गई। उपराज्यपाल, राज्यपाल की अनुपस्थिति में उसके कार्यों का निर्वाह कर सकता था।

राज्यपाल और परिषदों को वैधानिक अधिकार भी प्रदान किये गये थे। उन्हें कार्यपालिका, व्यवस्थापिका और न्यायपालिका सम्बन्धी अधिकारों से युक्त किया गया। कम्पनी के व्यापारिक हितों का संरक्षण करना ही इसके पीछे मुख्य भावना थी। उन्हें व्यापार-सम्बन्धी लाइसेंस प्रदान करने, व्यापारिक मार्ग निश्चित करने, व्यापारिक गतिविधियों का संचालन करने हेतु कानून, नियम और परिनियम बनाने सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये।[8] लेकिन उनके ये अधिकार असीमित नहीं थे। उन पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध अरोपित किये गये थे। सबसे बड़ा प्रतिबंध यह था कि इनके द्वारा बनाये जाने वाले कानून ब्रिटिश परम्परागत कानूनों के प्रतिकूल नहीं होने चाहिए थे।

कम्पनी राज में भी राज्यपालों की बहुमुखी भूमिका का निर्धारण किया गया था। अतः वे न केवल कम्पनी के व्यापारिक हितों की सुरक्षा करने तक ही सजग रहते थे, अपितु ब्रिटिश साम्राज्य के हितों की रक्षा करने के प्रति भी पूर्ण उत्तरदायित्व और निष्ठा से कार्य करते थे। उन्हें इस बात के निर्देश प्रदान किये गये थे कि वे सदैव ब्रिटिश शासन के हितों और लाभों को ध्यान में रखें।[9] राज्यपालों की व्यापारिक, प्रशासनिक और राजनीतिक भूमिका ने उन्हें कम्पनी राज के संचालन में महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान कर दिया। फलस्वरूप "उसे कम्पनी के मामलों में मुख्य भूमिका के निर्वाह करने वाले व्यक्तित्व की संज्ञा दी गई ।"[10] कम्पनी की संचालन समिति में राज्यपाल, उपराज्यपाल, और 24 सदस्यीय परिषद् के लोग सम्मिलित थे। कम्पनी की नीतियों का निर्धारण भी इन्हीं लोगों द्वारा किया जाता था। लेकिन इस संचालन समिति पर कम्पनी की साधारण सभा "कोर्ट"

का नियंत्रण था। साधारण सभा, संचालन समिति द्वारा लिये गये निर्णयों में संशोधन कर सकती थी। संचालन समिति द्वारा लिये गये प्रत्येक निर्णय और नीतियों को लागू करने से पूर्व 'कोर्ट' का अनुमोदन आवश्यक था। इस तरह से 1600 ई. के चार्टर द्वारा राज्यपाल संस्था के प्रारम्भिक स्वरूप का विकास हुआ।

भारत में कम्पनी राज की शक्तियों के बढ़ने के साथ-साथ राज्यपाल संस्था की भूमिका, शक्तियों और दायित्व में वृद्धि होती गई। विविध पारित किये जाने वाले चार्टरों— 1609 ई., 1661ई., 1686ई., 1694 ई. और 1698 ई. के साथ ही राज्यपाल संस्था के विविध पक्ष स्पष्ट होते गये। इस समय तक कलकत्ता, मद्रास और बम्बई की प्रेसीडेन्सियों का प्रशासन राज्यपालों द्वारा किया जाता था।[11] प्रारम्भ में, किसी व्यक्ति द्वारा इस पद पर एक समयावधि से अधिक समय तक बने रहने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। सर थामस स्मिथ इस पद पर 1607ई. से सन् 1621ई. तक कार्य करते रहे। सर मौरिस अबाट भी 14 वर्षों तक इस पद पर बने रहे। 28 सितम्बर, 1694ई. के चार्टर द्वारा राज्यपाल की समयावधि में परिवर्तन हुआ। राज्यपाल और उपराज्यपाल अब दो वर्षों से अधिक अपने पदों पर बने नहीं रह सकते थे।[12]

प्रेसीडेन्सियों के प्रशासन के संचालन में राज्यपालों की भूमिका महत्त्वपूर्ण थी, परन्तु वे स्वेच्छाचारी बनने की स्थिति में नहीं थे। परिषदों में वरिष्ठ सिविल सेवकों के होने और बहुमत के आधार पर निर्णय लेने की प्रक्रिया के फलस्वरूप उन पर प्रभावी नियंत्रण था। अतः राज्यपालों के अपनी प्रेसीडेन्सियों के प्रधान होने के बावजूद उनकी स्थिति "समकक्षों में प्रथम" की ही थी।[13] अनेक बार राज्यपाल परिषदों के सदस्यों और साधारण सभा के सदस्यों 'कोर्ट' में अन्तर्विरोध की स्थिति उत्पन्न हो जाती थी। इसके कारण निर्णय प्रक्रिया में गतिरोध उपस्थित हो जाता था। किसी भी विषय का निष्पादन करने के लिए राज्यपाल अपनी भूमिका का प्रभावशाली तरीके से सम्पादन नहीं कर सकते थे। इस संवैधानिक गत्यावरोध की आशंका को समाप्त करने हेतु ऐसे विधेयकों को पारित किये जाने की आवश्यकता अनुभव की जाने लगी, जो राज्यपालों को वांछित शक्तियाँ प्रदान कर सकें। अप्रैल, 1772 ई. में बंगाल के राज्यपाल हेस्टिंगंज ने इस संस्था के लिए अधिक अधिकारों की माँग करते हुए, 7 नवम्बर, 1773 को 'कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स' को लिखा था कि यद्यपि राज्यपाल की शक्तियाँ महान् दिखाई देती हैं, लेकिन यथार्थ में यह उसकी परिषद् के सदस्यों से कुछ ही अधिक है।[14] इस तरह से सन् 1772 ई. तक राज्यपालों की स्थिति 'समकक्षों में प्रथम' से कुछ अधिक और अपनी परिषद् के सदस्यों से बेहतर होने के बावजूद भी अधिनायकवादी नहीं थी।

सन् 1773 ई. के अधिनियम को भारत के संवैधानिक विकास में नींव का पत्थर[15] (A Milestone in the Constitutional History of India) कहा जाता है। इस अधिनियम के माध्यम से तीनों प्रेसीडेन्सियों में केन्द्रीयकरण (Policy of Centralization) की नीति[16] और समन्वय की नीति (Policy of Coordination) को अपनाया गया।[17] इस नीति के अनुरूप ही महाराज्यपाल या गर्वनर जनरल (Governor-General) संस्था

का सृजन किया गया। फोर्ट-विलियम कलकत्ता में महाराज्यपाल का कार्यालय स्थित था। महाराज्यपाल को मद्रास और बम्बई के राज्यपालों पर अधीक्षण रखने और नियंत्रण स्थापित का अधिकार प्रदान किया गया। राज्यपालों के युद्ध और शांति की घोषणा करने के अधिकार को सीमित कर दिया गया। अब उनके लिए ऐसा करने हेतु महाराज्यपाल की पूर्वानुमति प्राप्त करना आवश्यक था।[18] कम्पनी के मामलों के बारे में राज्यपालों के लिए नियमित रूप से महाराज्यपाल को अपना प्रतिवेदन भेजना अनिवार्य था। इसमें यह भी व्यवस्था की गई थी कि अगर राज्यपाल और उसकी परिषद्, बंगाल की सर्वोच्च सत्ता के आदेशों का पालन नहीं करे तो महाराज्यपाल द्वारा उन्हें निलम्बित (suspended) किया जा सकता था।[19] इस तरह से इस अधिनियम ने भी राज्यपाल संस्था की शक्तियों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण प्रावधान निश्चित किये।

सन् 1784 ई. में ब्रिटिश संसद द्वारा पिट्स इण्डिया एक्ट पारित किया गया। इसमें राज्यपाल को हटाये जाने सम्बन्धी प्रावधानों में परिवर्तन किया गया। इस अधिनियम के अनुसार यद्यपि राज्यपाल को कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स द्वारा नियुक्त किया जाता था, लेकिन उसे ब्रिटिश सम्राट द्वारा हटाया जा सकता था।[20] राज्यपाल, महाराज्यपाल के अतिरिक्त, कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स एवं इनकी गुप्त समितियों से भी आदेश और निर्देश प्राप्त कर सकते थे। राज्यपाल पर उसकी परिषद् का नियंत्रण यथावत् बना रहा।

ब्रिटिश संसद द्वारा पारित सन् 1786 ई. के अधिनियम के द्वारा भी राज्यपाल के अधिकारों और शक्तियों में वृद्धि की गई। इस अधिनियम में महाराज्यपाल और अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों के राज्यपालों को यह अधिकार प्रदान किया गया था कि वे कम्पनी के हितों और भारत में ब्रिटिश हितों की सुरक्षा के लिए अपनी परिषदों के निर्णय को रद्द कर दें।[21] इस तरह से प्रस्तावित अधिनियम द्वारा महाराज्यपाल और राज्यपाल पर परिषदीय नियंत्रण को समाप्त कर दिया गया। इस नियंत्रण की समाप्ति के साथ ही इन दोनों संस्थाओं की शक्तियों में व्यापक वृद्धि हुई।

सन् 1793 ई. के अधिनियम के द्वारा महाराज्यपाल और राज्यपाल के संस्थागत स्वरूप को और भी अधिक शक्तिशाली बनाया गया। इस अधिनियम के द्वारा इन संस्थाओं पर इनकी परिषदों के नियंत्रण को और भी कम कर दिया गया। अब वे अपनी-अपनी परिषदों से पूछे बिना ही अपने-अपने उत्तरदायित्व के आधार पर आदेश और प्रस्ताव पारित कर सकते थे।[22] राज्यपालों की अपनी परिषदों की तुलना में स्थिति में सुधार अवश्य हुआ, परन्तु महाराज्यपाल के साथ उनके सम्बन्ध पूर्ववत् बने रहे। उन्हें परिषदों द्वारा पारित प्रस्तावों, आदेशों और अधिनियमों की सत्य प्रतिलिपि महाराज्यपाल को भेजनी पड़ती थी।[23] राज्यपाल की नियुक्ति के सम्बन्ध में कोर्ट ऑफ डायरेक्टर्स का अधिकार बना रहा।[24] इस तरह से इस अधिनियम से राज्यपाल और महाराज्यपाल के आपसी सम्बन्धों और उनका उनकी परिषदों के साथ आचरणगत-व्यवहार स्पष्ट हुआ।

बाद में पारित किये जाने वाले विभिन्न अधिनियमों ने भी राज्यपाल पद की स्थिति और विकास को आगे बढ़ाया। सन् 1800 ई. के अधिनियम के द्वारा मद्रास के

राज्यपाल को व्यवस्थापन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हुए।[25] सन् 1807 ई. के अधिनियम ने राज्यपाल की शक्तियों में अभिवृद्धि की। मद्रास और बम्बई के राज्यपालों को व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये। लेकिन इन अधिकारों पर सर्वोच्च न्यायालय और रिकार्डर की पुष्टि और नियंत्रण सम्बन्धी प्रावधान रखा गया।[26]

राज्यपाल संस्था के स्वरूप को मुखरित करने में सन् 1833 ई में ब्रिटिश संसद द्वारा पारित चार्टर-अधिनियम की भी मुख्य भूमिका रही है। इस अधिनियम द्वारा महाराज्यपाल का राज्यपालों पर पूर्ण वर्चस्व स्थापित कर दिया गया। बंगाल के महाराज्यपाल को भारत का महाराज्यपाल बना दिया गया। ब्रिटिश प्रभाव-क्षेत्रों में उसकी सत्ता को पुष्ट किया गया। अधीनस्थ प्रेसीडेन्सियों के राज्यपालों को महाराज्यपाल के अधीन कर दिया गया।[27] राज्यपालों को, महाराज्यपाल को अपने द्वारा जारी किये आदेशों की सत्य-प्रतिलिपियाँ भी भेजनी पड़ती थीं। इस अधिनियम द्वारा "केन्द्रीयकरण" की नीति का सूत्रपात किया गया। अधिनियम में जिस तरह से महाराज्यपाल का राज्यपालों पर नियंत्रण और वर्चस्व स्थापित किया गया, उससे दोनों ही संस्थाओं में सघर्ष अवश्यंभावी बन गया था। राज्यपालों के लिए महाराज्यपाल का हस्तक्षेप असहनीय था। दोनों ही संस्थाओं में संघर्ष की स्थिति के कारण प्रान्तीय प्रशासन में गतिरोध पैदा होने लगा। फलस्वरूप प्रान्तीय प्रशासन की क्रियान्विति में बाधा उपस्थित होने लगी। यह अधिनियम 20 वर्ष तक अस्तित्व में रहा। फिर भी इस अधिनियम ने राज्यपाल पद की संस्थागत स्थिति को स्पष्टता के साथ उजागर किया।

भारत में अधिक प्रतिनिधित्वपूर्ण व्यवस्था का सूत्रपात करने की दृष्टि से ब्रिटिश संसद द्वारा सन् 1853 ई. का चार्टर एक्ट (The Charter Act of 1853) पारित किया गया। इस ऐक्ट की प्रमुख व्यवस्थाओं में महाराज्यपाल को बंगाल की फोर्ट विलियम प्रेसीडेन्सी से मुक्त करने और इसके लिए अलग से राज्यपाल की व्यवस्था करने का प्रावधान निश्चित किया गया।[28] बंगाल में उपराज्यपाल नियुक्त किया गया।[29] इस तरह से यह अधिनियम बंगाल के सम्बन्ध में महाराज्यपाल और उपराज्यपाल के पदों के बारे में निश्चित व्यवस्था करने में सहायक सिद्ध हुआ।

सन् 1854 ई. में पारित एक्ट द्वारा सन् 1853 ई. के ऐक्ट में संशोधन किये गये। इस ऐक्ट के सेक्सन 4 के अन्तर्गत महाराज्यपाल को उसकी परिषद् में राज्यपालों की शक्तियों को कम करने तथा बंगाल, आगरा और उत्तरी-पश्चिमी प्रान्तों के राज्यपालों और उपराज्यपालों की शक्तियों को कम करने सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये।[30]

कम्पनी राज में राज्यपालों की नियुक्ति और संस्थागत स्थिति का विश्लेषण करने से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि वे भारत में ब्रिटिश समाज के कुलीन वर्ग का प्रतिनिधित्व करते थे। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी की स्थापना से लेकर 1853 ई. तक किसी भी भारतीय को राज्यपाल पद पर नियुक्त नहीं किया गया। राज्यपालों की अभिजात्यवादी प्रवृत्ति बरकरार रही। लेकिन कम्पनी राज में राज्यपाल पद का संस्थागत स्वरूप विकास की प्रारम्भिक अवस्था में ही था। इस काल में राज्यपाल पद की राजनैतिक पृष्ठभूमि में

संरचना नहीं हुई, अपितु व्यापारिक हितों को पुष्ट करने के उद्देश्य को आधार बनाकर ही इस पद की सर्जना की गई थी। अत: इस काल में राज्यपालों की राजनीतिक भूमिका भी सीमित ही रही।

क्राउन के प्रतिनिधि के रूप में

सन् 1857 ई. की क्रान्ति के बाद भारत से ईस्ट इण्डिया कम्पनी के शासन को समाप्त कर दिया गया। सन् 1858 ई. में भारत शासन अधिनियम, 1858 (The Government of India Act, 1858) पारित किया गया। अब भारत का शासन प्रत्यक्ष रूप से ब्रिटिश-क्राउन के हाथ में आ गया। भारत में शासन के स्तर में परिवर्तन आने के साथ ही राज्यपालों के स्तर में भी परिवर्तन हुआ। अब राज्यपालों की नियुक्ति ब्रिटिश-क्राउन द्वारा की जाने लगी।[31] ब्रिटिश क्राउन द्वारा राज्यपालों की सहायता करने हेतु दो कार्यकारी पार्षदों (Executive Councillors) की नियुक्ति की जाने लगी। राज्यपाल को अपनी परिषद् के निर्णयों को रद्द करने का अधिकार दिया गया। यद्यपि उन्हें महाराज्यपाल के अधीनस्थ कर दिया गया, परन्तु उसकी भारतमंत्री तक सीधी पहुँच थी।[32] इस तरह से 1858 ई. के अधिनियम ने राज्यपालों को क्राउन के प्रतिनिधि का स्तर प्रदान किया।

समय-समय पर पारित किये जाने वाले परिषदीय अधिनियमों से भी राज्यपाल पद की स्थिति को स्पष्ट आधार प्रदान किया गया। सन् 1861 ई. के भारतीय परिषद् अधिनियम के माध्यम से प्रान्तीय प्रशासन में महत्त्वपूर्ण परिवर्तन किये गये। इसमें राज्यपालों के कार्यों और शक्तियों में वृद्धि की गई। अधिनियम की धारा 44-47 के अनुसार महाराज्यपाल (गवर्नर-जनरल) को उपराज्यपाल (लेफ्टीनेन्ट-गवर्नर) नियुक्त करने का अधिकार प्रदान किया गया। बंगाल, मद्रास और बम्बई के राज्यपालों को यह शक्ति प्रदान की गई कि वे कानून बनाने के उद्देश्य से अपनी परिषदों में कम से कम 4 और अधिकतम 8 सदस्यों को नामजद कर सकें। इन सदस्यों में गैर सरकारी सदस्यों का भी प्रावधान रखा गया। इनमें से कम से कम आधे सदस्यों का गैर सरकारी होना आवश्यक था। अतिरिक्त-सदस्यों को परिषद् की बैठकों में भाग लेने और मतदान करने का अधिकार नहीं दिया गया था। राज्यपालों को अपनी परिषदों की बैठकों की अध्यक्षता करने का अधिकार प्रदान किया गया था। परिषद् में किसी विधेयक पर बराबर मत आने की स्थिति में राज्यपाल को निर्णायक मत देने का अधिकार प्राप्त था। राज्यपाल की पूर्वानुमति के बिना कोई भी सदस्य प्रेसीडेन्सी के सार्वजनिक राजस्व से सम्बन्धित कोई विधेयक प्रस्तुत नहीं कर सकता था।[33] राज्यपाल किसी भी विधेयक पर अपनी स्वीकृति दे सकता था, अथवा ऐसा करने से इन्कार कर सकता था।[34] राज्यपाल द्वारा स्वीकृत किसी भी विधेयक को महाराज्यपाल निरस्त कर सकता था। महाराज्यपाल की पूर्वानुमति के बिना राज्यपाल अपनी परिषद् सहित, सार्वजनिक ऋण, प्रचलित सिक्कों, 1860 ई. के पेनल कोड ऑफ इण्डिया, धर्म, सेनाओं, कापी-राइट, विदेशी राजकुमारों और राज्यों के बारे में कोई भी नियम

और परिनियम नहीं बना सकता था।[35] यह अधिनियम पहली बार राज्यपालों की संस्थागत स्थिति को सुस्पष्ट करने की दिशा में सहायक बना। अनेक वर्षों तक राज्यपाल संस्था की शक्तियाँ और प्रक्रियागत स्थिति इससे संचालित होती रही।

भारतीय परिषद् अधिनियम, सन् 1871 ई. के द्वारा सपरिषद्-राज्यपाल, और सपरिषद्-महाराज्यपाल, को शांति और सुव्यवस्थित सरकार के सम्बन्ध में नियम बनाने का प्रारूप प्रस्तावित करने का अधिकार प्रदान किया गया।[36] महाराज्यपाल की परिषद् को इस प्रारूप पर विचार करके निर्णय लेने का अधिकार प्राप्त था। अगर उसके द्वारा यह प्रारूप स्वीकार कर लिया जाता था तो इस पर कानून बन जाता था। लेकिन भारत सचिव को सपरिषद् राज्यपाल को इस शक्ति से वंचित करने का अधिकार प्राप्त था। इस तरह से इस अधिनियम के द्वारा प्रान्तीय प्रशासन का उत्तरदायित्व राज्यपाल के पास होने के बावजूद भी उस पर केन्द्र का पूर्ण वर्चस्व पूर्ववत् बना रहा।

भारतीय परिषद् अधिनियम सन् 1892 ई. के द्वारा भी राज्यपाल की शक्तियों और कार्यों के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण व्यवस्थाएँ निर्धारित की गईं। इसमें राज्यपालों को अपने-अपने प्रान्तों की परिषदों में सदस्यों की संख्या के रिक्त स्थानों को भरने, सदस्यों की निरन्तर अनुपस्थिति की स्थिति में उनके स्थानों को रिक्त घोषित करने, सदस्यों के त्यागपत्र देने की स्थिति में उनके स्थान पर अन्य सदस्यों को नामजद करने तथा कानून निर्माण करने के उद्देश्य से अपनी परिषदों में कम से कम 8 और अधिकतम 20 अतिरिक्त सदस्यों को नियुक्त करने की शक्तियाँ प्रदान की गईं।[37] यथार्थ में, प्रान्तों में, राज्यपाल अंग्रेजों की "फूट डालो और शासन करो" की नीति को क्रियान्वित करने के सशक्त अभिकरण बन गये। सभी राज्यपालों द्वारा प्रान्तीय-व्यवस्थापिका सभाओं में मुसलमानों को विशेष-प्रतिनिधित्व प्रदान करने की बात की जाने लगी।[38] इस तरह से उपर्युक्त परिषदीय-अधिनियम राज्यपालों की स्थिति को संस्थागत स्वरूप प्रदान करने की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण सिद्ध हुए।

सन् 1909 ई. के मोर्ले-मिन्टो अधिनियम द्वारा भी राज्यपाल संस्था में महत्त्वपूर्ण रूप से परिवर्तन किया गया। अधिनियम की धारा 5 के अनुसार परिषद् सहित राज्यपाल और उपराज्यपाल द्वारा बनाये गये नियमों के लिए परिषद् सहित महाराज्यपाल का अनुमोदन आवश्यक था। राज्यपालों को सहयोग करने वाली परिषदों की सदस्य संख्या में विस्तार किया गया। मद्रास, बम्बई और बंगाल में यह संख्या 20 से बढ़ाकर 50, संयुक्त-प्रान्त, पूर्वी बंगाल तथा आसाम के लिए 15 से बढ़ाकर 50, तथा पंजाब और बर्मा के लिए 9 से बढ़ाकर 30 कर दी गयी।[39] भारत सचिव को राज्यपाल की कार्यकारी परिषद् में साधारण सदस्यों की संख्या निश्चित करने का अधिकार प्रदान किया गया।[40] इस तरह से मोर्ले-मिन्टो अधिनियम द्वारा प्रान्तीय प्रशासन में राज्यपाल की भूमिका अत्यन्त महत्त्वपूर्ण बनाई गई। उसका विधानपरिषद् के सरकारी और गैर-सरकारी सदस्यों पर पूर्ण नियंत्रण था। विधानपरिषदें उस पर नियंत्रण स्थापित करने में असक्षम थीं। इस अधिनियम की व्यवस्थाओं के बाद यह स्पष्ट हो गया कि आगामी अधिनियमों में इस संस्था को और भी महत्त्वपूर्ण स्थान और शक्तियाँ प्राप्त होंगी।

ब्रिटिश काल में इस संस्था को सन् 1919 ई. के अधिनियम के साथ ही नूतन आयाम प्राप्त हो गये। इस अधिनियम में राज्यपाल की नियुक्ति, संवैधानिक और संस्थागत स्थिति, प्रक्रियागत-आचरण और भूमिका को स्पष्ट रूप से परिभाषित किया गया। इस अधिनियम के अनुसार राज्यपाल की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा 5 वर्ष के लिए की जाती थी। प्रस्तावित अधिनियम के अन्तर्गत उसे प्रान्तीय प्रशासन का मुख्य शासक बनाया गया। उसकी नियुक्ति करते समय ब्रिटिश सम्राट भारत सचिव से परामर्श लेता था। ब्रिटिश सम्राट द्वारा ब्रिटिश समाज के कुलीन वर्ग में से ही राज्यपालों की नियुक्ति की जाती थी। सन् 1919 ई. के अधिनियम में भारतीयों को उत्तरदायी शासन प्रदान करने के लिए प्रान्तों में 'द्वैध शासन' (डायार्की)की व्यवस्था का सूत्रपात किया गया। अधिनियम के अनुच्छेद 3 के अन्तर्गत बम्बई, मद्रास एवं बंगाल के महाप्रान्त, संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, असम, पंजाब, बिहार और उड़ीसा को, राज्यपालों (गर्वनरों) के प्रान्त का स्तर प्रदान किया गया। इन प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था अर्थात् दोहरे शासन पद्धति की व्यवस्था की गई। सन् 1919 ई. के अधिनियम की प्रथम धारा में प्रान्तीय प्रशासन के विषयों को दो वर्गों में विभाजित करने का आदेश दिया गया था। ये थे — "हस्तान्तरित विषय" और "आरक्षित विषय"। राज्यपाल, सरकार के इन दोनों वर्गों के बीच संपर्क कड़ी का कार्य करता था। दोनों ही विषयों का प्रशासन उसी के द्वारा सम्पादित किया जाता था। वास्तविकता तो यह है कि भारत में राज्यपाल पद का सच्चे अर्थों में संस्थागत विकास ही इसी अधिनियम के साथ प्रारम्भ होता है।

सन् 1919 ई. के अधिनियम में प्रस्तावित द्वैध शासन व्यवस्था को 1 अप्रैल, 1921 ई. से नौ प्रान्तों — बंगाल, मद्रास, बम्बई, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, उड़ीसा, मध्यप्रान्त, असम और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त। इस व्यवस्था के संचालन और नेतृत्व करने के लिए राज्यपालों को व्यापक शक्तियाँ प्राप्त थीं।

द्वैध शासन की असफलता ने प्रान्तीय प्रशासन में परिवर्तन को अपरिहार्य बना दिया। इस व्यवस्था के दोषों को दूर करने हेतु ही सन् 1935 ई. में भारत शासन अधिनियम पारित किया गया। इसके अन्तर्गत प्रान्तों से द्वैध शासन को समाप्त कर दिया गया। इसके स्थान पर "प्रान्तीय स्वायत्तता"(Provincial Autonomy) की नई शासन व्यवस्था लागू की गयी। यह व्यवस्था 11 राज्यपाल प्रान्तों — मद्रास, बम्बई, बंगाल, संयुक्त प्रान्त, पंजाब, बिहार, मध्यप्रान्त और बरार, असम, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, उड़ीसा और सिन्ध में लागू की गयी। इन प्रान्तों का प्रशासन-संचालित करने का दायित्व राज्यपाल को सौंपा गया। राज्यपाल की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट के विशेष मुहर लगे आज्ञापत्र द्वारा की जाती थी और वह प्रान्तीय प्रशासन का प्रधान था।[41] अधिनियम ने प्रान्त की समूची कार्यकारी-शक्ति और सत्ता राज्यपाल (गवर्नर) में निहित कर दी।[42] राज्यपाल की पदवी और उसके अधिकारों का वर्णन स्पष्ट रूप से अधिनियम में अंकित था। उसका वेतन भी इसी के द्वारा निर्धारित होता था।

राज्यपालों की नियुक्ति के भी दो मापदण्ड निर्धारित किये गये थे। प्रथम, बम्बई, मद्रास और बंगाल जैसे महत्त्वपूर्ण प्रान्तों के राज्यपालों की नियुक्ति ब्रिटिश सम्राट द्वारा भारतमंत्री की सलाह पर की जाती थी। अन्य प्रान्तों में राज्यपालों की नियुक्ति सम्राट द्वारा महाराज्यपाल अथवा वायसराय की सिफारिश पर की जाती थी। इनकी नियुक्ति 5 वर्ष के लिए की जाती थी। राज्यपालों की सेवा-शर्तें 1919 ई. के अधिनियम के अनुरूप ही थीं। भिन्न-भिन्न प्रान्तों में राज्यपालों को प्रदान किये जाने वाले वेतन, भत्तों और सुविधाओं में अन्तर था। प्रान्तीय विधानमंडल, राज्यपालों का वेतन कम नहीं कर सकते थे। इस अधिनियम में राज्यपालों की संवैधानिक, संस्थागत और प्रक्रियागत स्थिति को पूर्णरूपेण ढ़ँग से सुस्पष्ट कर दिया गया। राज्यपालों को व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गईं थीं। सन् 1935 ई. के अधिनियम से यह स्पष्ट हो गया कि अब ब्रिटिश सरकार राज्यपाल संस्था को अत्यधिक महत्त्व देने लगी है।

भारत स्वतंत्रता अधिनियम, 1947 ई. के द्वारा भारत में ब्रिटिश शासन का अन्त हुआ। इस अधिनियम के लागू होने के पूर्व ही राज्यपालों ने 15 अगस्त, 1947ई. को अपने-अपने त्यागपत्र महाराज्यपाल को दे दिये थे। इससे इस पद पर नई नियुक्तियाँ करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। मद्रास, बम्बई और असम के राज्यपालों को पुनः इस पद पर नियुक्त कर दिया गया। शेष प्रान्तों में राज्यपाल पद पर नई नियुक्तियाँ की गईं। इन नियुक्तियों को ब्रिटिश सम्राट द्वारा स्वीकृति प्रदान की गई। यथार्थ में, ये नियुक्तियाँ औपचारिक रूप से प्रान्तों के प्रधानमंत्रियों की स्वीकृति से, कांग्रेस उच्चकमान द्वारा की गई थीं। भारत के सार्वजनिक जीवन के विशिष्ट व्यक्तियों को इन पदों के लिए चुना गया।[43] इस अधिनियम में राज्यपालों को राज्य का संवैधानिक प्रधान बनाया गया। उनको सभी कार्यों में सहयोग और परामर्श देने हेतु एक मंत्रिपरिषद् का प्रावधान निर्धारित करने की व्यवस्था की गई थी। लेकिन अब राज्यपालों की स्थिति 1935 ई. के अधिनियम जैसी नहीं रह सकी। सन् 1935 ई. के अधिनियम में संशोधन किया गया। उसके विशेष उत्तरदायित्वों को समाप्त कर दिया गया। जैसाकि कहा गया कि,"अब पूर्ण उत्तरदायित्व प्रधानमंत्री में निहित था, जो कि प्रशासनिक-अध्यक्ष था।"[44]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि भारत में राज्यपाल संस्था का क्रमिक विकास हुआ है। प्रारम्भ में इसकी प्रकृति व्यापारिक थी और बाद में राजनैतिक उद्देश्य और स्वार्थ इसके साथ जुड़ते गये। समय-समय पर पारित किये जाने वाले अधिनियमों से इस संस्था की संवैधानिक, संस्थागत और प्रक्रियागत स्थिति स्पष्ट होती गई। औपनिवेशिक काल में राज्यपाल पद का स्वरूप लोकतांत्रिक सिद्धान्तों और जन-प्रतिनिधित्व के नियमों के अनुकूल नहीं था। लेकिन यहाँ इतना तो कहना समीचीन होगा कि इस संस्था के विकास के साथ-साथ भारत में प्रान्तीय प्रशासन की संवैधानिक और संस्थागत स्थिति के विकास करने का मार्ग प्रशस्त होता गया। अतः राज्यपाल संस्था का विश्लेषण करते समय इस "औपनिवेशिक अतीत" को वांछित महत्त्व प्रदान किया जाना चाहिए।

संदर्भ

1. गहलोत, एन.एस., स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया; ट्रेन्ड्स एण्ड इश्यूज् (गीतांजली पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1985), पृ.1
2. बनर्जी, ए.सी., इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स कलकत्ता, (ए. मुखर्जी, प्रायवेट लिमिटेड कम्पनी, 1948) वोल्यूम I
3. सिंह, पुरुषोत्तम; गवर्नर्स ऑफिस इन इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया, [नवयुग, साहित्य मंदिर, वैद्यनाथ देवघर (एस.पी.) बिहार, 1968] पृ.1
4. तत्रैव
5. चार्टर एक्ट 1600 पी. मुखर्जी द्वारा सम्पादित इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स, 1600-1918 में उद्धृत, (कलकत्ता,1918) वोल्यूम I, पृ.3
6. निहालसिंह, गुरुमुख; लैण्डमार्क्स इन इण्डियन कांस्टीट्यूशनल एण्ड नेशनल डवलपमेन्ट, (दिल्ली 1963), पृ.4
7. सिंह, पुरुषोत्तम; उपर्युक्त, पृ.2
8. दहिया, एम.एस., ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया, (ए क्रिटीकल कमेन्टरी) (संदीप प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979), पृ.1
9. चौधरी, के.एन., दी इंग्लिश ईस्ट इण्डिया कम्पनी (लन्दन, फ्रेन्क कास एण्ड कम्पनी लिमिटेड, 1965) पृ.29-30
10. राय हरद्वारीराय एण्ड पाण्डे जवाहरलाल; दि ऑफिस ऑफ दी गवर्नर इन प्री-इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया, जर्नल ऑफ दी सोसाइटी फार दी स्टडी ऑफ स्टेट गवर्नमेन्ट्स, वाल्यूम चार, न.3 और 4, जुलाई-दिसम्बर, 1971, पृ.220
11. दासगुप्ता, ए.डी., राइज एण्ड प्रोग्रेस ऑफ दि ब्रिटिश पावर इन इण्डिया; वोल्यूम I, पृ.337
12. सिंह, पुरुषोत्तम; उपर्युक्त, पृ.4
13. कीथ, ए.बी., ए कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया– 1900-1935 (लन्दन, 1935), पृ.4
14. म्योर, रैम्जे; दि मैकिंग ऑफ दी ब्रिटिश इण्डिया; 1756-1858 (पब्लिकेशन ऑफ दी यूनिवर्सिटी ऑफ मानचेस्टर, 1923), पृ.111
15. सहारे, एच.के., ए लीगल स्टडी ऑफ कान्स्टीट्यूशनल डवलपमेन्ट ऑफ इण्डिया, कलकत्ता, 1970) पृ.5
16. कूपलैण्ड, आर., दि इण्डियन प्रोब्लम, 1833-1935 (आक्सफोर्ड, 1943) पृ.9
17. पुन्निहा, के.वी., इण्डिया एज ए फेडरेशन (मद्रास, 1936), पृ.18
18. सिंह, पुरुषोत्तम; उपर्युक्त, पृ.8
19. रेग्यूलेटिंग एक्ट ऑफ 1773, सेक्सन, 9
20. दि ईस्ट इण्डिया कम्पनी एक्ट, 1784, सेक्सन,32
21. निहालसिंह, गुरुमुख; उपर्युक्त, पृ. 3
22. चार्टर एक्ट ऑफ 1793, सेक्सन 93
23. सिंह, पुरुषोत्तम; उपर्युक्त, पृ., 10
24. दहिया, एम.एस., उपर्युक्त, पृ.8
25. मुखर्जी, पी., उपर्युक्त, पृ.16-18
26. कीथ, ए. बी., उपर्युक्त, पृ.126

27. चार्टर एक्ट ऑफ 1833, सेक्सन 59, 65, 66 एव 68
28. चार्टर एक्ट ऑफ 1856, सेक्सन 16
29. दहिया, उपर्युक्त, पृ.10
30. तत्रैव पृ. 11
31. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1858, सेक्सन,29
32. सिंह, पुरुषोतम; उपर्युक्त, पृ.15
33. दि इण्डियन कौंसिल एक्ट, 1961, सेक्सन 29,34, और 38
34. तत्रैव, सेक्सन,41
35. तत्रैव, सेक्सन,43
36. दि इण्डियन कौंसिल एक्ट, 1871, सेक्सन3
37. दि इण्डियन कौंसिल एक्ट, 1892, सेक्सन,1
38. बनर्जी, एस.सी., द्वारा सम्पादित, इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेन्ट्स वोल्यूम II, पृ.222
39. काश्यप, सुभाष; भारत का साविधानिक विकास और स्वाधीनता सघर्ष (रिसर्च, दिल्ली, 1972) पृ.66
40. दि इण्डियन कौंसिल एक्ट, 1909, सेक्सन,5
41. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1935, सेक्सन 48(1)
42. काश्यप, डॉ. सुभाष; उपर्युक्त, पृ 32
43. सिंह, पुरुषोतम; उपर्युक्त, पृ.32
44. दि हिन्दू (मद्रास) अगस्त 20, 1947

अध्याय - 2

संवैधानिक तानाशाही

भारत में स्वतन्त्रता-प्राप्ति से पूर्व ही राज्यपाल संस्था का निरूपण कर लिया गया था। विभिन्न अधिनियमों में उसके अधिकारों और शक्तियों को पुष्ट किया गया था। राज्यपालों से सम्बन्धित संवैधानिक व्यवस्थाओं को देखने से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपालों को प्रान्तीय प्रशासन का संचालन करने वाले मात्र औपचारिक संवैधानिक प्रधानों का ही दर्जा प्रदान नहीं किया गया था, अपितु उन्हें प्रान्तीय प्रशासन की धुरी बनाकर "संवैधानिक तानाशाहों" का स्वरूप प्रदान किया गया। सैद्धान्तिक दृष्टि से भी उन्हें पर्याप्त संवैधानिक अधिकारों से सुसज्जित कर दिया गया। उनकी संवैधानिक शक्तियों के आगे प्रान्तीय मुख्यमंत्री, और मंत्रिपरिषद् जैसी संवैधानिक संस्थाएँ महत्त्वहीन हो गईं। ये अपने अस्तित्व के लिए भी राज्यपालों की तरफ देखने लगीं। इस प्रकार से स्वतन्त्रता के पूर्व राज्यपाल संस्था का संवैधानिक तानाशाही का स्वरूप उजागर हुआ, अर्थात् उनकी तानाशाही को संवैधानिक मान्यता प्रदान की गई। यद्यपि इस संवैधानिक तानाशाही पर महाराज्यपाल, भारत सचिव और ब्रिटिश संसद् का नियंत्रण था।

संवैधानिक अध्यक्ष मात्र नहीं

भारत में कम्पनी राज की स्थापना के साथ ही राज्यपाल संस्था का विकास प्रारम्भ होता है। सन् 1909 ई. के मोर्ले मिन्टो अधिनियम ने इस संस्था को, यथार्थ रूप में संवैधानिक आयाम प्रदान किया। लेकिन सन् 1919 ई. के अधिनियम के साथ ही इस संस्था की संवैधानिक स्थिति स्पष्ट होती है। अतः इस संस्था की संवैधानिक स्थिति का सही विश्लेषण यहीं से किया जाता है। अधिनियम में प्रान्तीय प्रशासन से सम्बन्धित विषयों को दो भागों में विभाजित करने की व्यवस्था की गई। ये थे — हस्तान्तरित विषय और आरक्षित विषय। स्थानीय स्वायत्त शासन, शिक्षा, स्वास्थ्य, रक्षा सम्बन्धी कार्य, सफाई, अस्पताल, सड़कें, मकान इत्यादि सार्वजनिक कार्य, सीमा शुल्क, कृषि, उद्योगों एवं सहकारी संस्थाओं का विकास इत्यादि जैसे प्रान्तीय विषय हस्तान्तरित विषयों में गिने जाते थे। भूमि सम्बन्धी कानून तथा भूमिकर, प्रशासन, दुर्भिक्ष परित्राण, सिंचाई, वन, न्याय-व्यवस्था,

पुलिस, जेलें, कारखानों और श्रमिकों सम्बन्धी विषय आरक्षित विषयों में गिने जाते थे।[1] दोनों ही विषयों के प्रशासन के संचालन का दायित्व राज्यपाल पर छोड़ दिया गया था। वह आरक्षित विषयों का प्रशासन करने के लिए एक कार्यकारिणी की सहायता और सलाह लेता था। इसके सदस्य ब्रिटिश सम्राट द्वारा पाँच वर्ष के लिए नियुक्त किये जाते थे, परन्तु प्रत्यक्ष रूप से इनकी नियुक्ति में राज्यपाल का बहुत अधिक हाथ होता था।[2] ये कार्यकारिणी के सदस्य किसी भी रूप में प्रान्तीय व्यवस्थापिका के प्रति उत्तरदायी नहीं होते थे और न ही व्यवस्थापिका का इन पर कोई नियंत्रण था। राज्यपालों की स्थिति कार्यकारिणी की तुलना में बहुत अधिक शक्तिशाली थी। कार्यकारिणी और व्यवस्थापिका द्वारा राज्यपाल के वेतन को कम नहीं किया जा सकता था। वह शांति और व्यवस्था के नाम पर कार्यकारिणी के निर्णय को ठुकरा सकता था। इस तरह से कार्यकारिणी के निर्णय राज्यपालों के लिए बाध्यकारी नहीं थे। राज्यपालों की "निर्णायक-मत" देने की शक्ति ने भी कार्यकारिणी की तुलना में उसे सर्वोच्च बना दिया था। किसी विषय पर कार्यकारिणी में पक्ष और विपक्ष में समान मत आने की स्थिति में राज्यपाल को "निर्णायक-मत" के प्रयोग करने का अधिकार प्राप्त था। इस शक्ति का प्रयोग कर के वह किसी भी निर्णय को निरस्त कर सकता था। इस प्रकार से आरक्षित विषयों के प्रशासन में भी उसकी भूमिका सर्वोपरि थी।

हस्तान्तरित विषयों के संचालन में भी राज्यपालों को असीम और अबाध अधिकार प्राप्त थें। इन विषयों का संचालन करने में वह मंत्रिपरिषद् की सलाह और सहायता लेता था। लेकिन वह मंत्रियों की सलाह को अस्वीकार कर सकता था। इस तरह से सन् 1919 ई. का अधिनियम प्रान्तों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना की दिशा में एक बड़ा कदम था, और इस उद्देश्य को पूरा करने के लिए राज्यपालों पर महान् उत्तरदायित्व आरोपित किया गया।[3] प्रान्तों में राज्यपालों को कार्यपालिका व्यवस्थापिका, वित्त, विशेष उत्तरदायित्व और आपातकालीन सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। इन शक्तियों के कारण उसकी प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीय-भूमिका बन गई।

राज्यपाल को प्रान्तीय प्रशासन का संचालन करने हेतु उसी तरह की स्वेच्छाचारी शक्तियाँ प्राप्त थीं जो केन्द्र में केन्द्रीय प्रशासन का संचालन करने हेतु महाराज्यपाल के पास थीं। राज्यपाल को प्रान्तीय-मन्त्रियों को नियुक्त करने और बिना कारण बताये ही उन्हें अपने पदों से हटाने का अधिकार प्राप्त था। वह मन्त्रियों की सलाह को अस्वीकार कर सकता था और वह संवैधानिक दृष्टि से उनकी सलाह मानने के लिए किसी भी दृष्टि से बाध्य नहीं था। आरक्षित विषयों का प्रशासन संचालित करने में भी राज्यपाल की भूमिका शीर्षस्थ रूप में थी। वह न केवल अपनी कार्यकारिणी के द्वारा लिये गये निर्णयों को रद्द कर सकता था, अपितु उसकी सलाह को भी ठुकरा सकता था। दोनों ही विषयों के प्रशासन का संचालन करने की दृष्टि से राज्यपाल को नियम, उपनियम और आदेश जारी करने का भी अधिकार था' इस तरह से उसे एक साथ ही अपनी कार्यकारिणी और मन्त्रियों को नेतृत्व और निर्देश प्रदान करने की शक्ति प्राप्त थी। ये कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राज्यपाल को संवैधानिक अध्यक्ष से कहीं अधिक का दर्जा प्रदान करती थीं।

राज्यपालों की व्यवस्थापिका सम्बन्धी शक्तियाँ भी अपरिमित और विस्तृत थीं। राज्यपालों को विधानमंडलों के गठन, कार्यप्रणाली और उनकी प्रक्रियागत भूमिका के निर्धारण सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। राज्यपाल को प्रान्तीय विधानमंडल में गैर सरकारी सदस्यों को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त था। उसे प्रान्तीय विधानमंडल के प्रथम अध्यक्ष को चार वर्षों तक के लिए नियुक्त करने का अधिकार था। इसके बाद के अध्यक्ष के निर्वाचन का अधिकार यद्यपि प्रान्तीय विधानमंडल के सदस्यों को था, परन्तु इस पर भी राज्यपाल की स्वीकृति अनिवार्य थी। उसी के द्वारा प्रान्तीय विधानमंडल के उपाध्यक्ष की भी नियुक्ति की जाती थी। राज्यपाल द्वारा अपने द्वारा नियुक्त अध्यक्ष और उपाध्यक्ष दोनों को हटाया जा सकता था। प्रान्तीय विधानमंडल के सदस्यों को भी अध्यक्ष और उपाध्यक्ष को हटाने का अधिकार था, लेकिन इस पर भी राज्यपाल की सहमति आवश्यक थी। राज्यपाल को प्रान्तीय विधानमंडल के कार्यकाल के निर्धारण करने का भी महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किया गया था। यद्यपि प्रान्तीय विधानमंडल का कार्यकाल तीन वर्ष का था, परन्तु राज्यपाल इस कार्यकाल को एक वर्ष के लिए बढ़ा सकते थे। राज्यपाल को प्रान्तीय विधानमंडल को विघटित करने की शक्ति भी प्राप्त थी। वे इसके कार्यकाल की समाप्ति के पूर्व भी इसे भंग कर सकते थे। उन्हें विधानमंडलों के अधिवेशनों के समय और स्थान का निर्धारण करने की शक्ति भी प्राप्त थी। राज्यपाल विधानपरिषद् को सम्बोधित कर सकता था।[4] वह विधानमंडल की बैठकों को स्थगित कर सकता था। उसे प्रान्तीय विधानमंडल का सत्रावसान करने का भी अधिकार प्राप्त था। राज्यपाल अपनी कार्यकारिणी और मंत्रियों की संयुक्त बैठक भी बुला सकते थे। विधेयकों के सम्बन्ध में राज्यपालों को प्रदान की गई महत्त्वपूर्ण शक्तियों के कारण प्रान्तीय व्यवस्थापन- प्रक्रिया में उनकी भूमिका को अत्यन्त प्रभावी स्थान प्राप्त हो गया। प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को कानून बनाने के लिए उसकी स्वीकृति अनिवार्य थी। वह किसी भी विधेयक को स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। राज्यपाल विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों को पुनर्विचार और पुनर्निरीक्षण करने हेतु प्रान्तीय विधानमंडल को भेज सकते थे। वह प्रान्त की सुरक्षा के नाम पर किसी भी विधेयक अथवा प्रस्ताव पर विधानमंडल में बहस को रोक सकता था।[5] कुछ विधेयकों के प्रान्तीय विधानमंडल में प्रस्तावित करने के पूर्व भी राज्यपाल की स्वीकृति अनिवार्य थी। वह व्यवस्थापिका द्वारा अस्वीकार किये गये किसी भी विधेयक को प्रमाणित कर के कानून बनाने की शक्ति रखता था। वह प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को महाराज्यपाल के आदेश हेतु या विचारार्थ सुरक्षित रख सकता था। राज्यपाल अध्यादेश भी जारी कर सकता था। सन् 1919 ई. के अधिनियम की धारा 12 (1) के अनुसार प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक पर राज्यपाल अथवा महाराज्यपाल की स्वीकृति आवश्यक थी। महाराज्यपाल द्वारा किसी भी विधेयक को ब्रिटिश सम्राट की स्वीकृति के लिए भी आरक्षित किया जा सकता था। इस तरह से व्यवस्थापन के क्षेत्र में वह महत्त्वपूर्ण अधिकार रखता था।

वित्तीय मामलों में भी राज्यपाल का प्रान्तीय वित्त पर पूर्ण नियंत्रण था। उसके निर्देशों के अनुसार ही प्रान्तीय बजट का निर्माण और निर्धारण किया जाता था। राज्यपाल को किसी भी विभाग का संचालन करने हेतु व्यय-प्राधिकृत करने का अधिकार था ।[6] उसे ही इस बात का भी निर्धारण करने की शक्ति थी कि आरक्षित और हस्तान्तरित विषयों पर कितना-कितना खर्च किया जाए? इस सम्बन्ध में निर्णय करने के लिए वह कार्यकारिणी और मन्त्रियों की संयुक्त बैठक बुला सकता था। दोनों में मतभेद होने की स्थिति में उसका निर्णय ही अंतिम माना जाता था। वित्तीय मामलों में प्रान्तीय विधानमंडल का नियंत्रण नहीं के बराबर था। उसकी इससे अधिक दयनीय स्थिति क्या हो सकती थी कि बजट के 70 प्रतिशत भाग पर तो प्रान्तीय विधानमंडल मतदान ही नहीं कर सकता था। राज्यपाल द्वारा प्रशासन को उचित तरीके से संचालित करने के नाम पर, किसी भी मद को प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा अस्वीकार करने, उसमें कटौती करने या संशोधित करने के बावजूद भी, खर्च किया जा सकता था। इस अधिकार के माध्यम से राज्यपाल, विधानमंडल पर अपनी सर्वोपरिता को सिद्ध करने की स्थिति में आ जाता था। हस्तान्तरित मामलों में उसका वर्चस्व अधिक नहीं होने के बावजूद भी वह इनके सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण रूप से निर्णय ले सकता था। वह प्रान्तीय विधानमंडल की अस्वीकृति के बावजूद भी आपातकाल एवं शांति एवं व्यवस्था के नाम पर पिछले वर्ष खर्च की गई राशि के बराबर की राशि को खर्च करने की स्थिति में था। इस तरह से वह प्रान्तीय विधानमंडल के निर्णयों की उपेक्षा करने की स्थिति में था। राज्यपाल को वित्तीय मामलों में कुछ विशेष अधिकार भी प्राप्त थे। खर्च की कुछ मदें ऐसी थीं, जिन्हें स्वीकृत कराने हेतु विधानमंडल के पास भेजा जाना आवश्यक नहीं था। ये मदें थीं — (1) प्रान्तीय सरकार द्वारा महाराज्यपाल की परिषद् को देय अंशदान की धनराशि, (2) ऋणों पर ब्याज एवं ऋण चुकाने की निक्षिप्त निधि प्रभार, (3) ऐसा व्यय जिसकी राशि विधि द्वारा या विधि के अनुसार निर्धारित की गई हो, (4)सम्राट द्वारा व उनकी स्वीकृति द्वारा एवं परिषद् के निर्णय से राज्य सचिव द्वारा नियुक्त किये गये व्यक्तियों के वेतन, और (5)प्रान्त के उच्च न्यायालय तथा प्रमुख सरकारी वकीलों के वेतन।[7] इन मदों के निर्धारण करने में भी राज्यपाल का निर्णय अंतिम होता था। वित्तीय मामलों में राज्यपालों की महत्त्वपूर्ण भूमिका के कारण ही वे प्रान्तीय प्रशासन में निर्णायक भूमिका अदा करने की स्थिति में आ गये थे।

1919 ई. के अधिनियम में द्वैध शासन को सफल बनाने की दृष्टि से राज्यपालों को निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) जारी किये गये। इनमें यह व्यवस्था की गई थी कि हस्तान्तरित विषयों के बारे में राज्यपाल अपने मन्त्रियों के परामर्श को तब तक मानेगा जब तक कि वह उनकी सम्मति से मतभेद रखने का कोई विशेष कारण न समझे। उस समय वह मंत्रियों की उपेक्षा कर के अपनी इच्छानुसार कार्य कर सकेगा।[8] इस तरह से इस निर्देश-पत्र में भी राज्यपाल की स्थिति को शक्तिशाली रखा गया था। वह प्रान्त की शांति और सुरक्षा, पिछड़ी जातियों के उत्थान, अल्पसंख्या वाली जातियों के कल्याण, धार्मिक एवं जातीय-झगड़ों से जनता को बचाने, और सार्वजनिक सेवाओं के हितों

की रक्षार्थ अपने मंत्रियों की सलाह की उपेक्षा कर सकता था। परन्तु निर्देश-पत्र में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि वह महाराज्यपाल और भारत सचिव के सभी प्रकार के आदेशों का पालन करें। इस प्रकार से दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि इस निर्देश-पत्र से राज्यपाल की निरंकुशता और स्वेच्छाचारिता की संवैधानिक पुष्टि की गयी।

निर्देश-पत्र (Instrument of Instructions) द्वारा राज्यपालों को सामान्य दायित्वों के अतिरिक्त विशेष दायित्व (Special Responsibilities) भी प्रदान किये गये। इनमें प्रान्त के सभी भागों में शांति और सुरक्षा को स्थापित करना, धार्मिक और प्रजातीय-संघर्षों को दूर करना, अल्पसंख्यकों और पिछड़ी जातियों की प्रगति और कल्याण के लिए प्रयत्न करना, प्रान्तीय नागरिक सेवा के सदस्यों के अधिकारों और विशेषाधिकारों की रक्षा करने और भारत सचिव तथा महाराज्यपाल द्वारा जारी किये गये आदेशों का पालन करने जैसे दायित्व सम्मिलित थे। यह ध्यान रखना भी राज्यपालों को सौंप दिया गया था कि विधान परिषदों का कोई अधिनियम या सरकार का कोई आदेश लोगों को उनके प्रजाति, धर्म, शिक्षा, सामाजिक स्थिति, लाभों तथा उन विशेषाधिकारों से वंचित नहीं करे जो उन्हें अब तक मिलते रहे हैं, और भविष्य में भी मिलने वाले हैं। इन विशेषाधिकारों और विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण शक्तियों ने राज्यपालों की संवैधानिक स्थिति को अत्यधिक सुदृढ़ कर दिया।

सामान्य अधिकारों के साथ-साथ राज्यपालों को असामान्य परिस्थितियों से निपटने हेतु आपातकालीन शक्तियाँ भी प्रदान की गई थीं। इनका सम्बन्ध मुख्यतया मंत्रिपरिषद् का गठन और हस्तान्तरित विषयों के प्रशासन के संचालन से था। इन शक्तियों के अन्तर्गत राज्यपाल को यह अधिकार दिया गया था कि यदि प्रान्तीय विधानमंडल में बहुमत प्राप्त दल सत्ता संभालने के दायित्व से इन्कार कर दे, अथवा दूसरे दल को सत्ता संभालने से रोके तो वह प्रान्तीय प्रशासन के हस्तान्तरित विषयों का प्रशासन अपने हाथ में ले ले। इस तरह से मंत्रियों के नहीं होने की स्थिति में हस्तान्तरित विषयों का सारा संचालन राज्यपाल द्वारा किया जाता था। मंत्रियों के चयन, नियुक्ति और उनके कार्यभार के सम्बन्ध में राज्यपालों को विशेष शक्तियाँ और अधिकार प्रदान किये गये थे। राज्यपाल द्वारा किसी मंत्री के द्वारा त्यागपत्र देने, अथवा किसी मंत्री के पद के रिक्त होने की स्थिति में अन्य मंत्री की नियुक्ति की जा सकती थी। वह किसी मंत्री के कार्यभार को किसी मंत्री के इच्छुक होने की स्थिति में उसे सौंप सकता था। इतना ही नहीं राज्यपाल द्वारा सपरिषद् गवर्नर जनरल को सूचना देकर किसी भी मंत्री के कार्यभार को अपने हाथ में लिया जा सकता था। आपातकालीन शक्तियों के अन्तर्गत भारत सचिव और महाराज्यपाल द्वारा मय सपरिषद् प्रान्त के किसी भी हस्तान्तरित विषय के बारे में परिवर्तन किया जा सकता था। ऐसी स्थिति में परिवर्तित विषय का अधिकार राज्यपाल के हाथों में आ जाता था, जिसका संचालन राज्यपाल द्वारा अपनी परिषद् के माध्यम से किया जाता था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि सन् 1919 ई. के अधिनियम ने राज्यपालों को स्वेच्छाचारी अधिकार प्रदान कर के उनकी संवैधानिक तानाशाही का मार्ग

प्रशस्त कर दिया था। राज्यपालों की शक्तियों और भूमिका के बारे में श्री निवास आयगर का कहना है कि "प्रान्त में राज्यपाल को संवैधानिक तानाशाह बना दिया।[9]अधिनियम ने राज्यपाल को निरंकुश शासक बना दिया।[10] हस्तान्तरित विषयों के संचालन में भी उसे असामान्य अधिकार प्रदान किये गये थे, जो कि केवल तानाशाही व्यवस्था में ही संभव थे। वह विधान परिषद् द्वारा हस्तान्तरित विषय की किसी माँग को अस्वीकार करने के बावजूद भी, प्रान्त की शांति और सुरक्षा के नाम पर आवश्यक खर्च करने का आदेश प्रदान कर सकता था।[11]उसकी विशेषाधिकार (वीटो) की शक्ति[12] ने उसे बहुत शक्तिशाली बना दिया। उसकी विधानमंडल पर पूर्ण वर्चस्व की स्थिति का आभास इसी बात से मिलता है कि वह प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा अस्वीकार किये गये किसी भी विधेयक को प्रमाणित कर सकता था।[13] स्पष्टतः यह लोकतांत्रिक सिद्धान्तों की खुली अवहेलना थी। मंत्रियों के चयन में भी राज्यपालों द्वारा अलोकतांत्रिक तरीकों का परिचय दिया जाता था। उनके द्वारा यह चयन विभिन्न राजनैतिक और साम्प्रदायिक संगठनों में से किया जाता था।[14] प्रतिनिधि सरकार का यह स्पष्ट प्रतिवाद था।[15] राज्यपाल हस्तान्तरित विषयों के बारे में केवल संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य नहीं करते थे। उन्हें अपने मंत्रियों की सलाह से आगे बढ़कर अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों से कार्य करने का अधिकार प्राप्त था।[16] आरक्षित विषयों के संचालन में भी राज्यपाल की भूमिका सर्वोच्च थी। उसे किसी भी आरक्षित विषय पर प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा अस्वीकृत अनुदान को भी प्रमाणित करने का अधिकार प्राप्त था।[17] इस तरह से राज्यपाल की संवैधानिक तानाशाही को यथार्थ स्वरूप प्रदान किया गया था।

प्रान्तों में द्वैध शासन की असफलता ने नई शासन व्यवस्था की स्थापना की दिशा में मार्ग प्रशस्त किया। सन् 1935 ई. का भारत शासन अधिनियम पारित किया गया। इस अधिनियम के द्वारा केन्द्र में तो द्वैध शासन व्यवस्था को लागू कर दिया गया, परन्तु प्रान्तों में से इस व्यवस्था को समाप्त कर के प्रान्तीय स्वायत्तता की नई व्यवस्था लागू की गई। अब प्रान्तों का नियंत्रण सीधे ब्रिटिश क्राउन के अन्तर्गत कर दिया गया। इन प्रान्तों में कार्यपालिका और व्यवस्थापिका की नई व्यवस्था का सूत्रपात किया गया। प्रान्तीय स्वायत्तता का आदर्श 'विकेन्द्रीयकरण' नहीं था, केन्द्र और प्रान्तों के बीच सम्बन्धों का निरूपण एकात्मक प्रवृत्ति के आधार पर ही होता रहा।[18] संघीय सरकार प्रान्तों को निर्देश और नियंत्रण देने की स्थिति में थी। प्रस्तावित अधिनियम के अनुच्छेद 126 के अन्तर्गत संघीय सरकार प्रान्तीय सरकारों को निर्देश दे सकती थी। प्रान्तीय स्वायत्तता पर अनेक प्रकार के प्रतिबंध आरोपित कर दिये गये थे। अधिनियम के अनुच्छेद 102 के अनुसार महाराज्यपाल युद्ध और आन्तरिक अशान्ति के आधार पर आपातकाल की घोषणा कर के प्रान्तीय स्वायत्तता को समाप्त कर सकता था। अनेक प्रतिबंधों के आरोपण कर देने के कारण प्रान्तीय स्वायत्तता का आधार ही नष्ट हो गया था। संघीय सरकार बड़ी सरलता से इसका अपहरण कर सकती थी।

प्रान्तीय प्रशासन में शीर्षस्थ भूमिका

सन् 1935 ई. के अधिनियम के द्वारा राज्यपाल की शक्तियों और भूमिका का निरूपण करते समय संसदीय नियमों को ध्यान में रखा गया। ब्रिटिश सरकार द्वारा प्रस्तावित यह प्रथम अधिनियम था, जिसमें तकनीकी रूप से कुछ संसदीयवाद की गंध आती है।[19] राज्यपाल अपनी कार्यकारी सत्ता का प्रयोग प्रान्त की मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से करता था।[20] यद्यपि वह एक संवैधानिक शासक था, लेकिन शांति, नागरिक सेवकों, देशी रियासतों और अल्पसंख्यकों के बारे में उसे विशेष शक्तियाँ और उत्तरदायित्व प्रदान किये गये थे।[21] इस तरह से वह अपने स्व-विवेक और व्यक्तिगत निर्णय के अनुसार कार्य कर सकता था। इस शक्ति के कारण उसकी संवैधानिक स्थिति को सुदृढ़ता प्राप्त हो गई।

महाराज्यपाल का प्रान्तीय राज्यपालों पर पूर्ण नियंत्रण था। महाराज्यपाल द्वारा उसके स्व-विवेकीय अधिकारों के तहत जारी किये गये आदेशों और निर्देशों का पालन करना और उन्हें लागू करना राज्यपालों का कर्त्तव्य था।[22] राज्यपालों को जारी किये गये निर्देश-पत्र में उनसे प्रान्तीय प्रशासन में उच्च मापदण्डों को बनाये रखने, विभिन्न समुदायों के बीच मौहार्द्रपूर्ण सम्बन्ध कायम करने और प्रान्त के सार्वजनिक जीवन में जनता के सभी वर्गों की साझेदारी स्थापित करने की अपेक्षा की गयी थी।[23] राज्यपालों को विशेष शक्तियाँ [24] प्राप्त थीं, जिनका उपयोग वे महाराज्यपाल के सामान्य नियंत्रण में रहकर ही कर सकते थे।

इस अधिनियम ने राज्यपालों को व्यापक शक्तियाँ और अधिकार प्रदान किये। ये शक्तियाँ उसको संवैधानिक अध्यक्ष से कहीं अधिक का दर्जा प्रदान कर देती थीं। उसकी कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ अपरिमित और असीम थीं। इनमें प्रथम प्रकार की स्वेच्छाचारी या स्व-विवेकीय शक्तियाँ थीं। अधिनियम के अनुच्छेद 49 और 50 में राज्यपालों को व्यापक स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्रदान की गईं। प्रो. के.टी. शाह के अनुसार 32 मामलों में वह अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग कर सकता था। इनमें प्रमुख थीं — किसी मामले में व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करने के मापदण्ड निर्धारित करना। राज्यपालों को इस बात की छूट दी गई थी कि वे स्वयं ही इस बात का निर्धारण करें कि उन्हें किसी मामले में व्यक्तिगत शक्तियों का प्रयोग करना है, अथवा नहीं। द्वितीय, उन्हें नियुक्ति सम्बन्धी मामलों में भी यह शक्ति प्राप्त थी। राज्यपाल द्वारा ही अपने कार्यालय के कर्मचारियों को नियुक्त करने और उनके वेतन का निर्धारण करने के अधिकार का उपयोग किया जाता था। प्रान्तों के लोकसेवा आयोग के अध्यक्षों और सदस्यों की नियुक्ति का अधिकार भी राज्यपालों को ही प्राप्त था। तृतीय, मंत्रिपरिषद् के बारे में भी राज्यपाल को यह शक्ति प्राप्त थी। उसे ही प्रान्तों के मंत्रियों को नियुक्त करने और उन्हें अपने पद से हटाने का अधिकार प्राप्त था। वह मंत्रिपरिषद् की बैठकों की अध्यक्षता भी कर सकता था। वह व्यवस्थापिका द्वारा मंत्रियों के वेतन के निर्धारण नहीं करने की स्थिति में उनके वेतन का निर्धारण कर सकता था। चतुर्थ, राज्यपाल को प्रान्तीय विधानमंडल के

गठन और कार्यप्रणाली के बारे में भी अनेक प्रकार की स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्राप्त थीं। उसे ही प्रान्तीय विधानमंडल का अधिवेशन बुलाने, स्थगित करने और उसका सत्रावसान करने की शक्ति प्राप्त थी। वह विधानमंडल के दोनों सदनों की संयुक्त बैठक भी बुला सकता था। वह प्रान्तीय विधानमंडल के लिए चुनाव लड़ने हेतु किसी उम्मीदवार की अयोग्यताओं को समाप्त करने और उसे पुनः चुनाव लड़ने की अनुमति प्रदान करने की शक्ति का भी निर्वाह करता था। राज्यपाल द्वारा ही विधानमंडल की कार्यवाही को सुचारु-रूप से संचालित करने हेतु नियमों का निर्माण किया जा सकता था। वह प्रान्तीय विधानमंडल के निम्न सदन को भंग भी कर सकता था।

पंचम, व्यवस्थापन के क्षेत्र में भी राज्यपाल को महत्त्वपूर्ण स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्राप्त थीं। उसे ही प्रान्तीय विधानमंडल में विधेयकों को प्रस्तुत करने की अनुमति प्रदान करने का अधिकार प्राप्त था। वह विधानमंडल में किसी विधेयक अथवा उसकी किसी धारा पर चर्चा अथवा वाद-विवाद को बन्द करवा सकता था। राज्यपाल को खर्च की किसी भी मद को प्रान्तीय विधानमंडल में मतदान करने अथवा नहीं करने योग्य समझने का निर्णय लेने का भी अधिकार प्राप्त था।[25] उसे प्रान्तीय विधानमडल द्वारा पारित विधेयकों को स्वीकृति देने अथवा निषेध करने की भी स्वतंत्रता प्राप्त थी। राज्यपाल प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा स्वीकृत विधेयकों को ब्रिटिश सम्राट के विचारार्थ आरक्षित भी कर सकते थे। उन्हें राज्यपाल अधिनियमों (गवर्नर-एक्ट) का निर्माण करने की शक्ति भी प्राप्त थी। वे अध्यादेश भी जारी कर सकते थे।[26]

इनके अलावा राज्यपाल को हिसात्मक और विनाशकारी कार्यवाहियों को रोकने, प्रान्तीय प्रशासन को सुचारुरूप से सचालन करने हेतु नियमों का निर्माण करने, प्रतिरक्षा के सम्बन्ध में महाराज्यपाल के आदेशो और निर्देशों का पालन करने, मत्रियों सहित अन्य व्यक्तियों को गुप्तचर विभाग की सूचनाओ को प्रदान किये जाने पर प्रतिबन्ध लगाने, पुलिस विभाग की आतंकवादी गतिविधियो को गुप्त रखने का आदेश प्रदान करने, और अपवर्जित-क्षेत्रों (Excluded Areas) मे सरकार और प्रशासन का संचालन करने सम्बन्धी नियमों का निर्माण करने सम्बन्धी स्व-विवेकीय अधिकार प्राप्त थे। राज्यपाल अपनी इन स्व-विवेकीय शक्तियों का उपयोग करने में पूरी तरह से स्वतंत्र था। वह इस सम्बन्ध में अपने मंत्रियों से परामर्श करने अथवा नहीं करने और उस परामर्श को मानने अथवा नहीं मानने के लिए पूरी तरह स्वतंत्र था। इस तरह से राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के निर्णयों की उपेक्षा करने की स्थिति में था। इस तरह से इस अधिकार ने प्रान्तीय स्वायत्तता के आधार को ही खोखला कर दिया। राज्यपालों के सम्मुख मंत्रिपरिषद् की भूमिका महत्त्वहीन बन गई।

राज्यपाल को व्यक्तिगत निर्णय (Individual Judgement) के अनुसार भी कार्य करने की शक्तियाँ प्राप्त थीं। राज्यपाल महाराज्यपाल के निर्देशन और अधीन रहकर ही इन शक्तियों का उपयोग कर सकता था। इन शक्तियों में प्रमुख थीं — प्रान्त के महाधिवक्ता के वेतन, नियुक्ति और पदच्युति सम्बन्धी नियमों और प्रक्रियाओं का निर्धारण करना,

विधानमंडल के अधिवेशन नहीं होने और अवकाश की स्थिति में अध्यादेश जारी करना, पुलिस के नियमों में संशोधन करना, सार्वजनिक सेवाओं से सम्बन्धित मामले और यह घोषणा करना कि किसी भारतीय रियासत का शासक या प्रजा अथवा कबाइली क्षेत्र का निवासी या भारत की सीमा से मिले-जुले प्रदेश का कोई निवासी प्रान्तीय प्रशासन में कोई सरकारी पद प्राप्त करने योग्य है।[27] इन अधिकारों ने भी राज्यपाल की प्रान्तीय प्रशासन में केन्द्रीय भूमिका बनाने में सहयोग दिया। राज्यपाल इन अधिकारों का सहारा लेकर मनचाहे निर्णय ले सकते थे। यह जन-प्रतिनिधित्व के सिद्धान्तों की खुल्लम-खुल्ला अवहेलना थी।

राज्यपालों को अपने कर्त्तव्यों का निर्वाह करने हेतु "विशेष उत्तरदायित्वों" (Special Responsibilities) से भी युक्त किया गया। इन अधिकारों का उपयोग करने के लिए राज्यपाल अपने स्व-विवेक से कार्य कर सकता था। उसके लिए इन अधिकारों का प्रयोग करने के लिए मंत्रियों से परामर्श लेना तो आवश्यक था, परन्तु उसके लिए यह परामर्श मानना अनिवार्य नहीं था। इस तरह से इस मामले में भी राज्यपाल की स्थिति मंत्रियों की तुलना में बहुत बेहतर थी। राज्यपाल के इन उत्तरदायित्वों में प्रमुख थे— प्रान्त में अथवा उसके किसी भी भाग में शांति की स्थापना अथवा शांति भंग करने वाले खतरों का निवारण, अल्पमतों के उचित हितों की रक्षा, नौकरों के कानूनी अधिकारों और हितों की रक्षा, देशी राज्यों के अधिकारों तथा उनके शासकों की प्रतिष्ठा की रक्षा, व्यापारिक विभेदों की रोकथाम, अपवर्जित क्षेत्रों का प्रशासन तथा महाराज्यपाल के आदेशों तथा निर्देशों को लागू करना।[28] इन शक्तियों ने राज्यपाल की भूमिका को निरंकुश स्वरूप प्रदान कर दिया। प्रान्तीय प्रशासन में पहल करने की शक्ति उसके हाथ में थी।

तृतीय, इन शक्तियों में मंत्रियों की सलाह से प्रयोग में लाई जाने वाली शक्तियाँ सम्मिलित थीं। लेकिन व्यवहार में, राज्यपाल मंत्रियों से यदा-कदा ही सलाह लेते थे, और वह भी केवल स्वैच्छिक रूप में ही। राज्यपाल मंत्रियों की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं थे। अतः मंत्रियों की सलाह से प्रयोग में लाई जाने वाली शक्तियाँ महत्त्वहीन ही थीं। मंत्रियों की सलाह से प्रयुक्त होने वाली शक्तियों को संवैधानिक संरक्षण प्राप्त नहीं होने से इनका संवैधानिक औचित्य ही समाप्त हो गया था।

इस अधिनियम ने राज्यपाल को अबाध व्यवस्थापिका सम्बन्धी अधिकार भी प्रदान किये । उसकी स्वीकृति के बिना प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा पारित कोई भी विधेयक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता था। वह प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा पारित किसी भी विधेयक को स्वीकृति देने से इन्कार कर सकता था। अधिनियम के अनुच्छेद 90 के अन्तर्गत राज्यपाल को "विशेष कानून" निर्माण करने का भी अधिकार प्राप्त था। वह किसी भी विधेयक को पुनर्विचार करने हेतु प्रान्तीय विधानमंडल को भेज सकता था। वह किसी भी विधेयक को महाराज्यपाल के पास विचारार्थ आरक्षित रख सकता था। राज्यपाल को प्रान्तीय विधानमंडल को संदेश भेजने का भी अधिकार प्राप्त था। वह शांति और व्यवस्था को प्रभावित करने वाले किसी भी विधेयक पर विचार करने को रोक सकता

Acc-74023, dt. 30.3.06, B. 300/-

था। वह विदेशी मामलों से सम्बन्धित किसी भी वाद-विवाद को रोक सकता था। उसे अध्यादेश जारी करने की भी शक्ति प्राप्त थी। अनुच्छेद 88 के अन्तर्गत उसे यह अधिकार प्रदान किया गया था कि जिन दिनों में प्रान्तीय विधानमंडल का अधिवेशन नहीं चल रहा हो तो वह आवश्यकतानुसार अध्यादेश जारी कर सके। यह अध्यादेश विधानमंडल के अधिवेशन के प्रारम्भ होने के छह सप्ताह तक वैध रहता था लेकिन इसके लिए महाराज्यपाल की पूर्वानुमति लेना आवश्यक था।

राज्यपाल को विधानमंडल का अधिवेशन बुलाने, सत्रावसान करने और स्थगित करने का अधिकार था। उसे प्रान्तीय विधानमंडल के दोनों सदनों का अलग-अलग रूप से या संयुक्त रूप से अधिवेशन बुलाने और उसमें भाषण देने की शक्ति प्राप्त थी। वह किसी विधेयक पर मतभेद होने की स्थिति में प्रान्तीय विधानमंडल के दोनों सदनों का संयुक्त अधिवेशन बुला सकता था। वह विधानमंडल के अध्यक्ष की सलाह से विधानमंडल के दोनों सदनों की कार्यवाही का सचालन करने हेतु नियमों का निर्माण भी कर सकता था। राज्यपाल एक घोषणा के द्वारा संविधान (1935 के एक्ट) को स्थगित कर सकता था, लेकिन इससे प्रान्तीय उच्च न्यायालय की शक्तियाँ अप्रभावित रहती थीं। उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि राज्यपाल को व्यवस्थापिका सम्बन्धी महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त थे।

प्रान्त के वित्त पर भी उसका पूरा नियंत्रण था। प्रान्तीय-बजट तैयार करवाने में उसकी महत्त्वपूर्ण भूमिका रहती थी। उसकी पूर्वानुमति के बिना कोई भी वित्त-विधेयक प्रान्तीय विधानमंडल में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता था। उसे ही इस बात का निर्धारण करने की स्वतंत्रता प्राप्त थी कि कौन से खर्च प्रान्त के राजस्व पर भारित है। प्रान्तीय विधानमंडल द्वारा किसी माँग पर या अनुदान की राशि में कटौती करने के बावजूद भी उसे "विशेष उत्तरदायित्वों" के नाम पर उस राशि को खर्च करने के नाम पर उसका व्यय करने का अधिकार था। इस अधिकार का प्रयोग कर के वह प्रान्तीय विधानमंडल की वित्त सम्बन्धी शक्तियों पर वर्चस्व स्थापित करने की स्थिति में था।

सामान्य शक्तियों के अलावा राज्यपाल को असामान्य शक्तियाँ भी प्राप्त थीं। अनुच्छेद 93 के अन्तर्गत उसे संकटकालीन शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। वह इस अधिकार के माध्यम से एक उद्घोषणा जारी करके प्रान्तीय प्रशासन को अपने हाथ में ले सकता था। उसे इस घोषणा में यह स्पष्ट करना पड़ता था कि अब संवैधानिक उपबन्धों के तहत प्रान्तीय प्रशासन का संचालन संभव नहीं रहा है। इस अधिकार का प्रयोग करने की दिशा में उसे विस्तृत स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्राप्त थीं। इन शक्तियों के अन्तर्गत वह राज्य के प्रशासनिक और व्यवस्थापन अधिकारों का उपयोग कर सकता था। लेकिन अधिनियम की धारा 93 में यह स्पष्ट कर दिया गया था कि इस तरह की उद्घोषणा करने के लिए राज्यपाल के लिए महाराज्यपाल की स्वीकृति लेना आवश्यक था। अधिनियम के अनुच्छेद 12 के अन्तर्गत महाराज्यपाल को अपने "विशेष उत्तरदायित्वों" का निर्वाह करने हेतु अनेक

शक्तियाँ प्रदान की गई थीं। महाराज्यपाल प्रान्तीय स्वायत्तता में हस्तक्षेप करने की शक्ति रखता था। इस तरह से भारत के महाराज्यपाल का राज्यपालों पर नियंत्रण था।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश काल में राज्यपालों को जो संवैधानिक स्तर और शक्तियाँ प्रदान की गईं थीं, वह किसी भी अर्थ में लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के संवैधानिक अध्यक्ष से मेल नहीं खाती हैं। राज्यपालों की इन शक्तियों ने प्रान्तीय स्वायत्तता पर गहरा प्रहार किया और प्रान्तों में संवैधानिक तानाशाही स्थापित हो गई। राज्यपालों की इस संवैधानिक स्थिति ने राज्य मंत्रिपरिषद् , विधानमंडल जैसी संस्थाओं के अस्तित्व को ही अर्थहीन बना दिया। ये जन-प्रतिनिधि संस्थाएँ राज्यपाल पर किसी भी प्रकार से नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम नहीं थीं। प्रान्तीय शासन व्यवस्था में जन-प्रतिनिधित्व की गुंजायश ही समाप्त हो गई।

संदर्भ

1. गुप्ता, डी.सी., भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, (विकास पब्लिशिंग हाउस, दिल्ली, 1977) पृ. 327
2. भण्डारी एवं डॉ. विमलेश; भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास (लक्ष्मीनारायण अग्रवाल, आगरा, 1971) पृ. 126
3. सिंह, पुरुषोत्तम; गवर्नर्स ऑफिस इन इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया, (नवयुग साहित्य मंदिर, वैद्यनाथ देवघर (एस.पी.), बिहार,1968) पृ. 1
4. "गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट" (ए.सी. बनर्जी द्वारा सम्पादित इण्डियन कांस्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स, वोल्यूम तीन, ए. मुखर्जी एण्ड कम्पनी, सैकिण्ड एडीशन, मार्च, 1949)पृ. 35
5. तत्रैव, पृ. 42
6. काश्यप, डॉ. सुभाष; भारत का संविधानिक विकास और स्वाधीनता संघर्ष (रिसर्च, दिल्ली, 1972) पृ. 91
7. गुप्ता, डी.सी., उपर्युक्त, पृ. 332
8. अग्रवाल, आर.सी., भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास, आधुनिक भारतीय संविधान तथा प्रशासन सहित (एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1985) पृ. 213-214
9. रिपोर्ट ऑफ दी इण्डियन स्टेच्यूरी कमीशन, वोल्यूम प्रथम, 1930(लन्दन, हिज मैजस्टीज स्टेशनरी ऑफिस) पृ. 213
10. सिंह, पुरुषोत्तम; उपर्युक्त, पृ. 25
11. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1919, सेक्सन 72 डी (2)
12. तत्रैव, सेक्सन 11
13. तत्रैव, सेक्सन 13 (1)
14. दहिया, एम.एस., ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया, (ए क्रिटीकल कमेन्टरी) (संदीप-प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979) पृ. 277
15. तत्रैव, पृ. 19
16. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, 1919, सेक्सन 4 (3)

17. तत्रैव, सेक्सन 72 डी (2)
18. कूपलैण्ड आर, दि कान्स्टीट्यूशनल प्राब्लम्स इन इण्डिया, (मद्रास,1945) भाग प्रथम, पृ.141
19. दहिया, एम.एस., उपर्युक्त, पृ 21
20. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट, सेक्सन 50 (1)
21. तत्रैव, सेक्सन 52
22. तत्रैव ।
23. इन्स्ट्रूमेन्ट ऑफ इन्सट्रक्शन टू दि प्रोविन्शियल गवर्नमेन्ट अण्डर एक्ट ऑफ, 1935, ए.सी. बनर्जी द्वारा सम्पादित पुस्तक इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डाक्यूमेण्ट्स, वोल्यूम द्वितीय, पृ.321
24. रिपोर्ट ऑफ दि स्टेट्स रिआर्गेनाइजेशन कमीशन, 1955, (मैनेजर, गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया प्रेस, नई दिल्ली, 1955), पैरा 41
25. दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट 1935, सेक्सन 78 (4)
26. तत्रैव, सेक्सन 75
27. अग्रवाल, आर.सी., उपर्युक्त, पृ. 319
28. महाजन, विद्याधर; भारत का सवैधानिक इतिहास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन (एस. चाँद एण्ड कम्पनी, दिल्ली, 1969) पृ. 160

अध्याय - 3

निरंकुश-शैली

किसी भी संघात्मक व्यवस्था की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि न केवल संघ और प्रान्तीय इकाइयों के बीच "सहकारी संघवाद" की भावना का ही विकास हो, अपितु प्रान्तीय प्रशासन का अध्यक्ष भी उत्तरदायी और मर्यादित ढँग से आचरण करे। उससे भी यह सहज रूप में ही अपेक्षा की जा सकती है कि वह जनता के निर्वाचित प्रतिनिधियों को वास्तविक सत्ता सौंपकर, मंत्रिपरिषद् के मित्र, सलाहकार, मार्गदर्शक, अभिभावक और दार्शनिक की भूमिका का निर्वाह करे। प्रान्तीय प्रशासन के दैनिक मामलों में उसका हस्तक्षेप नगण्य होना चाहिए। प्रान्तीय मंत्रिपरिषद् को सच्चे अर्थों में उत्तरदायी भूमिका सौंपी जानी चाहिए। इस स्थिति में ही संघात्मक व्यवस्था जीवन्त स्वरूप प्राप्त करके उत्तरदायी शासन का स्वरूप ग्रहण कर सकती है।

ब्रिटिशकाल में राज्यपाल पद का जिस रूप में सृजन किया गया, उसमें उत्तरदायित्व की भावना का नितान्त अभाव झलकता था। ब्रिटिश शासकों ने भारतीयों की भावनाओं को संतुष्ट करने हेतु उत्तरदायी शासन की स्थापना की आड़ में पूर्णरूपेण अनुत्तरदायित्व शासन व्यवस्था की रचना की। 20 अगस्त,1917ई. को ब्रिटिश सम्राट द्वारा की गई घोषणा में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया था कि भारतीयों को प्रशासन के प्रत्येक भाग में धीरे-धीरे स्थान दिया जायेगा। घोषणा में यह भी दोहराया गया था कि ऐसी संस्थाओं को प्रोत्साहित किया जायेगा, जो स्वशासन के कार्यों से जुड़ी हुई हों। इसी घोषणा के आधार पर सन् 1919 ई. का अधिनियम पारित किया गया। उत्तरदायी शासन प्रदान करने के लिए प्रान्तों में द्वैध शासन व्यवस्था लागू की गई। प्रस्तावित द्वैध शासन व्यवस्था सैद्धान्तिक और व्यवहारिक दोनों ही दृष्टियों से दोषपूर्ण थी। इसमें प्रान्तीय प्रशासन को दो भागों में अवैज्ञानिक ढँग से विभाजित करके प्रशासनिक नियमों की घोर उपेक्षा की गई। प्रान्तीय विषयों को हस्तान्तरित और आरक्षित विषयों में विभाजन करने के बाद से यह स्पष्ट हो गया कि इतने अस्वाभाविक और दोषपूर्ण विभाजन के बाद इस व्यवस्था का सफलतापूर्वक संचालन नितान्त असंभव है। वास्तव में द्वैध शासन ने उस भाँति कार्य नहीं किया, जैसी कि उससे अपेक्षा थी।[1] द्वैध शासन के लिए प्रयुक्त आम बोलचाल की भाषा अधिक सम्मानजनक नहीं थी। उसे 'राजनीतिक द्वि-पत्नीत्व' व 'कट्टर-तंत्र' के नाम से जाना

जाता था।[2] द्वैध शासन व्यवस्था के दोषों को उजागर करते हुए मद्रास प्रान्त के मंत्री के.वी.राव ने कहा था "मैं वन-रहित उन्नति तथा प्रगति का मंत्री था। मैं सिंचाई-रहित कृषि-मंत्री था। कृषि मंत्री के रूप में मेरा मद्रास कृषिकार ऋण अधिनियम से कोई वास्ता नहीं था। सिंचाई, कृषि-ऋण, भूमि विकास ऋण और वित्तीय राहत के बिना कृषि मंत्री के प्रभाव और कार्यक्षमता की अच्छी तरह से कल्पना की जा सकती है।"[3] इस तरह से द्वैध शासन की स्थापना के पीछे उत्तरदायी शासन की स्थापना का उद्देश्य निहित नहीं था। वास्तव में इस व्यवस्था के ढाँचे को देखने पर तो यही पता चलता है कि ब्रिटिश सरकार द्वारा इस शासन की स्थापना के पीछे मंशा यही थी कि भारतीय अभी पूर्ण उत्तरदायी शासन के योग्य नहीं हैं। अतः उन्होंने नाममात्र की शक्तियाँ तो भारतीय मंत्रियों को सौंप दीं, और वास्तविक अधिकार राज्यपालों के पास रख दिये। द्वैध शासन को उत्तरदायी बनाने के लिए यह आवश्यक था कि राज्यपालों को संवैधानिक शासक तक ही सीमित रखा जाता और वास्तविक शक्तियाँ मंत्रियों में केन्द्रित की जातीं। लेकिन ऐसा नहीं किया गया। सन् 1919 ई. के अधिनियम में राज्यपाल को मंत्रियों के ऊपर मिली अनिश्चित व सामान्य शक्तियाँ स्पष्ट रूप से इस सिद्धान्त के विरुद्ध थीं, उनको स्पष्ट रूप से परिभाषित करना चाहिए था।[4] वास्तव में माण्ट-फोर्ड रिपोर्ट के रचयिता प्रारम्भ से ही राज्यपाल को संवैधानिक अध्यक्ष से कहीं अधिक, अर्थात् वास्तविक शासक बनाना चाहते थे। वे यह चाहते थे कि राज्यपाल अपने मंत्रियों की सलाह से आगे बढ़कर अपनी भूमिका का सम्पादन करें। वे मंत्रियों की सलाह को तभी तक स्वीकार करें, जब तक कि वह ब्रिटिश हितों के अनुकूल हो। प्रान्तों में राज्यपालों ने व्यवहार में यह अनधिकृत सिद्धान्त प्रचलित किया कि मंत्रियों का कर्त्तव्य उन्हें सलाह देना है।[5] इस तरह से स्वेच्छाचारी राज्यपाल और उत्तरदायी शासन परस्पर विरोधी प्रतीत होते थे।

सन् 1935 में लागू की गई प्रान्तीय स्वायत्तता को तर्कपूर्ण ढँग से निर्मित करने के लिए यह अपेक्षित था कि राज्यपालों को प्रान्तों का संवैधानिक अध्यक्ष मात्र बनाया जाता । निर्वाचित मंत्रियों को प्रान्तीय विधानमंडलों के प्रति व्यक्तिगत और सामूहिक रूप से उत्तरदायी रखा जाता। वयस्क मताधिकार के आधार पर प्रान्तीय विधानमंडलों का गठन किया जाता। साथ ही इस व्यवस्था को अनावश्यक केन्द्रीय हस्तक्षेप से भी युक्त रखने जैसे आधारभूत-संवैधानिक सिद्धान्तों को अपनाये जाने की भी व्यवस्था की गई होती। लेकिन इन सब संवैधानिक सिद्धान्तों को नकार दिया गया। फलस्वरूप प्रान्तीय स्वायत्तता केवल राज्यपालों की व्यवस्था तक ही सीमित रह गई। संयुक्त संसदीय समिति ने प्रान्तीय स्वायत्तता में राज्यपालों की शक्तियों के बारे में कहा था कि सम्राट के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपालों को इतनी अधिक शक्तियाँ प्राप्त थीं कि वह प्रान्तीय स्वराज्य को सारहीन बना सकता था, अथवा उसका मखौल उड़ा सकता था। इस तरह से सन् 1919 ई. और 1935 ई. में लागू की जाने वाली दोनों ही व्यवस्थाओं में राज्यपालों के अधिकार इतने अधिक विस्तृत और अस्पष्ट थे कि उनसे प्रतिनिधित्वपूर्ण और लोकतांत्रिक ढँग से आचरण करने की अपेक्षा करना सारहीन था।

वास्तविक शासक

ब्रिटिशकाल में राज्यपाल वास्तविक शासक थे। सन् 1919 ई. और 1935 ई. के अधिनियमों ने राज्यपालों को असीमित और अबाध अधिकार प्रदान किये थे। सन् 1919 ई. के अधिनियम में उन्हें जो शक्तियाँ प्रदान की गई थीं, उसके आधार पर वे संवैधानिक शासक के रूप में ही सीमित नहीं रह सकते थे। प्रान्तों में मंत्रियों के चयन और पदच्युति में उनकी राय सर्वोच्च थी। मंत्रिमंडल के गठन करने का कोई संवैधानिक मापदण्ड नहीं था। साम्प्रदायिक निर्वाचन पद्धति का सहारा लेकर वे निर्वाचित मंत्रियों के स्थान पर अपने "कृपापात्र या वफादारों" को मंत्री नियुक्त कर देते थे। उनके लिए मंत्रियों की राय मानना या न नहीं मानना पूर्णरूपेण स्व-विवेकीय अधिकारों की बात थी। वे किसी भी मंत्री द्वारा लिये गये निर्णय को रद्द कर सकते थे। मंत्रीगण राज्यपालों की "इच्छापर्यन्त" तक ही अपने पदों पर बने रह सकते थे। अतः मंत्रीगण राज्यपालों को प्रसन्न करने में लगे रहते थे। मद्रास विधानमंडल में मंत्री के रूप में अपनी भूमिका को स्पष्ट करते हुए पानागल के राजा ने कहा था कि, "वे केवल राज्यपाल के प्रति उत्तरदायी हैं, और किसी के प्रति नहीं।" प्रान्तीय-शासन की शक्तियाँ राज्यपाल के हाथों में ही केन्द्रित थीं। सी.वाई. चिन्तामणि भी लिखते हैं कि "शक्ति राज्यपाल के हाथों में है, मंत्रियों के हाथों में नहीं।" राज्यपालों का प्रान्तीय सिविल सेवा पर पूर्ण नियंत्रण था और सिविल सेवक भी राज्यपाल के इशारों पर मंत्रियों के कार्यों में अवरोध उपस्थित करते थे। अनेक मामलों में सिविल सेवकों ने राज्यपालों की शह पर मंत्रियों द्वारा लिये गये निर्णयों को क्रियान्वित तक नहीं किया था।

राज्यपालों द्वारा मंत्रिमंडल के गठन में एकरूपता को नहीं अपनाये जाने के कारण मंत्रिमंडल एक सशक्त टीम के रूप में कार्य नहीं कर पाता था। राज्यपाल मंत्रिमंडल में परस्पर विरोधी विचारधाराओं और हितों के लोगों को मंत्री बना देता था, फलस्वरूप उनमें आपस में सहयोग और समन्वय नहीं रह पाता था। राज्य विधानपरिषदों में भी मंत्री परस्पर-विरोधी विचार व्यक्त करते थे। वे सामूहिक उत्तरदायित्व की भावना से प्रेरित होकर कार्य नहीं करते थे। जैसा कि श्री पुन्निया ने लिखा है कि "परस्पर मंत्रियों में इस प्रकार विवाद जनता के सम्मुख उनका सम्मान कम करते थे, व्यवस्थापिका में उनकी स्थिति निर्बल कर देते थे और उन्हें पूर्णतया राज्यपाल (गवर्नर) और उनके नामजद गुट की दया पर छोड़ देते थे।" [6] इस तरह से द्वैध शासन में मंत्रियों की स्थिति अत्यन्त दयनीय थी। राज्यपाल संवैधानिक दृष्टि से बहुत अधिक शक्तिशाली थे।

सन् 1935 ई. के अधिनियम में भी राज्यपालों को संवैधानिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण स्थान प्रदान किया गया था। राज्यपालों की शक्तियों की समीक्षा करते हुए प्रो. के.टी.शाह का कहना था कि 'राज्यपाल सरकार को केवल अलंकृत करने वाला अध्यक्ष नहीं है, वह सरकार का प्रभावशाली, नियंत्रण तथा अधिकार रखने वाला अध्यक्ष भी है।'[7] श्री चिन्तामणि तथा मसानी के शब्दों में, "राज्यपाल (गवर्नर) फौलादी ढांचे का केन्द्रीय-महराब था।" [8] सन् 1935 ई. की प्रान्तीय स्वायत्तता में राज्यपालों की भूमिका पूरी तरह से निरंकुश बन

गई। उनकी स्वेच्छाचारी, व्यक्तिगत निर्णय और विशेष उत्तरदायित्वपूर्ण शक्तियों ने उनके कार्यक्षेत्र को इतना विस्तृत और व्यापक बना दिया कि वह प्रान्तीय-प्रशासन का सर्वेसर्वा बन गया। इन अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या नहीं होने के कारण भी राज्यपालों की अधिकार-अपहरण की प्रवृत्ति बढ़ती गई। राज्यपालों की ये स्वेच्छाचारी शक्तियाँ उत्तरदायी शासन और प्रान्तों में उचित संवैधानिक-विकास के प्रतिकूल थीं। इन्होंने प्रान्तीय स्वायत्तता की आत्मा को ही नष्ट करके रख दिया। इन शक्तियों के परिप्रेक्ष्य में राज्यपालों ने अपने आपको स्वयंभू न्यायाधीश मान लिया और उन्होंने स्वयं ही यह निर्णय करने की शक्ति प्राप्त कर ली कि उन्हें किस क्षेत्र में अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग करना है। राज्यपालों की इन शक्तियों पर टिप्पणी करते हुए सर चिम्मनलाल सीतलवाड़ का कहना था कि "संरक्षणों, आरक्षणों, तथा स्व-विवेकीय शक्तियों ने प्रान्तीय स्वायत्तता को नष्ट करके रख दिया है।"[9]

स्वेच्छाचारिता के प्रतीक

सन् 1919 ई. और सन् 1935 ई. के अधिनियमों में राज्यपालों को जिस तरह से संवैधानिक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं, उससे उनके स्वेच्छाचारी स्वरूप का विकास हुआ। उनमें प्रान्तीय-शासन के उत्तरदायी स्वरूप का संचालन करने वाले गुणों का नितान्त अभाव था। उनमें संवैधानिक अध्यक्ष का दायित्व निर्वाह करने, मंत्रियों का विश्वास अर्जित करने, प्रान्तीय व्यवस्थापिका के सदस्यों में दायित्व की भावना का सृजन करने, अपनी कार्यप्रणाली से निष्पक्षता का बोध कराने, सिविल सेवकों में प्रतिनिध्यात्मक गुणों का संचार करने तथा जनविश्वास अर्जित करने जैसी मूलभूत योग्यताओं का नितान्त अभाव था। इससे ये दोनों ही शासन व्यवस्थाएँ असफलता की तरफ धकेल दी गईं।

सन् 1919 ई. में राज्यपालों की स्वेच्छाचारिता इस सीमा तक बढ़ गई थी कि उनके आगे मंत्रियों की स्थिति विवशतापूर्ण और दयनीय बन गई। वे अपना कार्य करवाने हेतु बहुधा त्यागपत्र देने की धमकी देते थे। राज्यपाल मंत्रियों के सभी कार्यों में पूर्ण हस्तक्षेप करते थे। मंत्रियों की स्थिति "गौरवमय सचिवों"[10] जैसी ही थी। प्रान्त के वित्त विभाग पर राज्यपाल का नियंत्रण होने के कारण मंत्रियों की स्थिति हास्यास्पद हो गई थी। वे निर्माण सम्बन्धी किसी भी कार्य को सम्पादित करने की स्थिति में नहीं थे। जैसा कि प्रो.ए.बी. कीथ ने लिखा है कि — मंत्रियों को कोष के ऊपर नियंत्रण रखने का कोई अधिकार ही नहीं था तो उत्तरदायी शासन की बात करना निरर्थक था।[11] इस तरह से राज्यपालों का मंत्रियों के प्रति उपेक्षापूर्ण और तिरस्कारपूर्ण व्यवहार था।

सिविल सेवा पर भी राज्यपालों का पूर्ण वर्चस्व था। सिविल सेवकों को मंत्रियों के विरुद्ध राज्यपालों का पूरा संरक्षण था। वे प्रायः मंत्रियों की अवहेलना और उपेक्षा करते थे। सचिव राज्यपालों से ही सीधे निर्देश और मार्गदर्शन प्राप्त करते थे। वे राज्यपालों के इशारों पर मंत्रियों को अपमानित करने से भी नहीं चूकते थे। इस स्थिति पर टिप्पणी करते हुए श्री के.वी.पुन्निया ने लिखा है कि — "किसी मंत्री के लिए इससे अधिक

उत्तेजनापूर्ण और अपमानजनक बात क्या हो सकती है कि उसके अधीनस्थ कर्मचारी उसके निर्णयों के विरुद्ध राज्यपाल के पास अपील लेकर जायें और उसके निर्णयों को रद्द करवा दें।[12] मंत्रियों और सिविल सेवकों में संघर्ष की स्थिति में राज्यपाल सिविल सेवकों का ही पक्ष लेते थे। यह स्थिति किसी भी दृष्टि से लोकतांत्रिक मान्यताओं के प्रतिकूल थी।

राज्यपालों की स्वेच्छाचारी शक्तियों के आगे प्रान्तीय विधानमंडलों और विधानपरिषदों की शक्तियाँ और भूमिका नगण्य ही थी। राज्यपालों के विशेषाधिकारों और विधेयक को प्रमाणित करने की शक्तियों ने विधानमंडलों को पंगु बना दिया था। प्रान्तीय विधानमंडल के पास राज्यपालों की स्वेच्छाचारी शक्तियों को नियंत्रित करने की शक्ति का भी अभाव था। वे उनके विरुद्ध किसी प्रकार का प्रस्ताव पारित करने की स्थिति में भी नहीं थे। विधानमंडल के नामजद सदस्य, निर्वाचित प्रतिनिधियों की अपेक्षा अधिक शक्तिशाली थे, क्योंकि उनको राज्यपालों का प्रत्यक्ष समर्थन प्राप्त था। ये सदस्य राज्यपालों के उचित और अनुचित निर्णयों का पुरजोर समर्थन करते थे। राज्यपालों की स्वेच्छाचारी शक्तियों पर टिप्पणी करते हुए केरल पुत्र ने ठीक ही लिखा है कि — राज्यपाल की स्वेच्छाचारिता के रहते हुए सीमित क्षेत्र में भी उत्तरदायित्व का हस्तान्तरण नहीं हो सका।[13]

व्यवहार में, द्वैध शासन के लागू होने के प्रारम्भिक वर्षों में तो राज्यपालों ने प्रान्तीय प्रशासन के कार्यों में अनुचित हस्तक्षेप नहीं किया, लेकिन बाद में उनका हस्तक्षेप निरन्तर बढ़ता ही गया। माण्टफोर्ड सुधारों के लागू होने के दो वर्षों तक और असहयोग आन्दोलन के चलते रहने तक राज्यपाल हस्तक्षेपवादी-प्रवृत्ति से अपेक्षाकृत अलग रहे। परन्तु बाद में जब असहयोग आन्दोलन समाप्त हो गया और माण्टेग्यू भारत सचिव नहीं रहे तो राज्यपालों ने मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया।[14] राज्यपालों की स्वेच्छाचारिता ने द्वैध शासन को असफल बना दिया। प्रो. कूपलैण्ड का कहना है कि द्वैध शासन अपने रचयिताओं के प्राथमिक उद्देश्य को पूरा करने में असफल रहा। यह भारतीय जनता को वास्तविक प्रशासन प्रदान नहीं कर सका।[15]

सन् 1935 ई. के प्रान्तीय स्वायत्तता वाली व्यवस्था में भी राज्यपालों की स्वेच्छाचारी भूमिका के दर्शन होते हैं। प्रान्तीय स्वायत्तता को क्रियान्वित करने हेतु फरवरी, 1937 ई. में चुनाव संपन्न कराये गये। इन चुनावों में कांग्रेस को भारी सफलता प्राप्त हुई। कुल 1585 स्थानों में से कांग्रेस ने 711 स्थान जीते, जिनमें से 5 प्रान्तों में उसे स्पष्ट बहुमत प्राप्त हुआ। इन प्रान्तों के नाम थे — संयुक्त प्रान्त (वर्तमान उत्तरप्रदेश), मध्यप्रान्त, मद्रास (वर्तमान तमिलनाडु), बिहार एवं उड़ीसा। बम्बई, बंगाल, असम(वर्तमान असम) एवं उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में कांग्रेस सबसे बड़े एकल दल के रूप में विजयी हुई। पंजाब व सिन्ध में उसका अपेक्षाकृत बहुत कम अल्पमत रहा।[16] जिन प्रान्तों में कांग्रेस को स्पष्ट बहुमत मिला, उन प्रान्तों में कांग्रेस ने मंत्रिमंडल बनाने के लिए यह शर्त रखी कि इन प्रान्तों के राज्यपाल दैनिक प्रशासन के संचालन में मंत्रियों के कार्यों में हस्तक्षेप नहीं करेंगे।[17] इन प्रान्तों के राज्यपालों ने ऐसा आश्वासन देने से इन्कार कर दिया। इस पर कांग्रेस ने मंत्रिमंडलों का गठन करने से इन्कार कर दिया।[18] फलस्वरूप इन प्रान्तों में

राज्यपालों द्वारा अल्पसंख्यक-मंत्रिमंडलों का गठन किया गया। फिर भी प्रान्तों में संवैधानिक-गत्यावरोध बना रहा। इससे प्रान्तीय प्रशासन का सुचारुरूप से संचालन करने में अनेक प्रकार की कठिनाइयाँ उपस्थित हुईं।

प्रान्तों में उत्पन्न संवैधानिक-गत्यवरोध को समाप्त करने की दृष्टि से तत्कालीन वायसराय लार्ड लिनलिथगो ने 22 जून,1931 ई. को दिये गये अपने रेडियो प्रसारण में यह आश्वासन दिया था कि, राज्यपाल की विशेष शक्तियाँ उसको प्रान्तीय प्रशासन में अंधाधुंध हस्तक्षेप करने का अधिकार नहीं देती हैं। साधारणतया राज्यपाल मंत्रियों के परामर्श के अनुसार उन सब मामलों में कार्य करेंगे, जिन मामलों में उन्हें अधिकार प्रदान किये गये हैं। वह दैनिक प्रशासन के मामले में भी अनुचित हस्तक्षेप नहीं करेगा। इस घोषणा में कहा गया था कि अपनी सीमित विशेष जिम्मेदारियों के अन्तर्गत निर्णय लेने से पूर्व भी राज्यपाल अपने मंत्रियों को उन सब कारणों को समझाने का पूर्ण प्रयत्न करेगा कि उसे उनकी (मंत्रियों) राय के विरुद्ध निर्णय क्यों लेना पड़ा और वह निर्णय क्यों ठीक है।[19] महाराज्यपाल की इस घोषणा ने नया वातावरण निर्मित किया। कांग्रेस की लम्बे समय से की जा रही माँग का इस घोषणा में अनुकूल समाधान खोजने का प्रयत्न किया गया कि राज्यपाल प्रान्तीय प्रशासन का संचालन करने में अनावश्यक हस्तक्षेप नहीं करेंगे। इस घोषणा ने कांग्रेस को प्रान्तीय मंत्रिमंडलों में शामिल होने के लिए अपने निर्णय पर पुनर्विचार करने के लिए बाध्य किया।

7 जुलाई सन् 1937 ई. को वर्धा में संपन्न हुई अपनी बैठक में कांग्रेस कार्यसमिति ने अपने प्रस्ताव में कांग्रेसजनों को पद ग्रहण करने की अनुमति देते हुए यह स्पष्ट कर दिया कि एक ओर यह पद ग्रहण नये अधिनियम को पराजित करने और दूसरी ओर कांग्रेस के रचनात्मक-कार्यक्रम को लागू करने के उद्देश्य से स्वीकार किये जाएँ।[20] इसके बाद लार्ड लिनलिथगो और महात्मा गाँधी में एक मौखिक समझौता हुआ। इससे कांग्रेस को यह आश्वासन मिल गया कि क्रियात्मक रूप से जहाँ तक उसके विशेष उत्तरदायित्व का सम्बन्ध है, राज्यपाल अपने विशेष अधिकारों का प्रवर्तन नहीं करेंगे।[21] इस प्रकार से कांग्रेस कार्यसमिति ने प्रान्तीय नेताओं को अपने-अपने प्रान्तों में मंत्रिमंडल बनाने की अनुमति प्रदान कर दी। उच्चकमान की अनुमति के बाद प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के गठन का मार्ग प्रशस्त हो गया। कांग्रेस ने आठ प्रान्तों में मंत्रिमंडलों का गठन किया। ये प्रान्त थे — संयुक्त प्रान्त, मध्यप्रान्त, उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त, बिहार, उड़ीसा, मद्रास और बम्बई। इस प्रकार से महत्त्वपूर्ण प्रान्तों के प्रशासन पर कांग्रेस का नियंत्रण स्थापित हो गया। शीघ्र ही शेष बचे हुए प्रान्तों में भी कांग्रेस के मंत्रिमंडल प्रतिष्ठित हो गये। सितम्बर, 1938 ई. में असम के मंत्रिमंडल द्वारा पराजित होने और त्यागपत्र देने के बाद वहाँ भी कांग्रेस का मंत्रिमंडल बना। पंजाब में सर सिकन्दर हयात खां के नेतृत्व में 'यूनियनिस्ट पार्टी' द्वारा मंत्रिमंडल बनाने के कारण उसे विपक्ष में बैठना पड़ा। दिसम्बर,1914 ई. में बंगाल में बने मंत्रिमंडल में कांग्रेस भी सम्मिलित हुई।[23]

प्रान्तों के दैनिक प्रशासन में हस्तक्षेप नहीं करने के स्पष्ट आश्वासन के बावजूद भी कांग्रेस-शासित-प्रान्तों के राज्यपालों ने प्रशासन में हस्तक्षेप करना प्रारम्भ कर दिया। उनके द्वारा कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के कार्यों में अवरोध उपस्थित किये जाने लगे। राज्यपालों की इस मनोवृत्ति से कांग्रेसी मंत्रियों का क्षुब्ध होना स्वाभाविक ही था। इससे शीघ्र ही कटुता की स्थिति उत्पन्न हो गई। राज्यपालों और मंत्रियों में अविश्वास की खाई गहरी होती गई,और संघर्ष अपरिहार्य लगने लगा। शीघ्र ही खुले संघर्ष की स्थिति भी उपस्थित हो गई। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों द्वारा अपने चुनाव घोषणा-पत्र में दिये गये आश्वासनों को लागू करने के साथ ही यह संघर्ष खुलकर सामने आ गया। 23अगस्त, 1936 ई. को संयुक्त प्रान्त और बिहार में कांग्रेसी मंत्रियों ने अपने दल के चुनाव घोषणा-पत्र को लागू करने की दृष्टि से राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के आदेश जारी किये। इन प्रान्तों के राज्यपालों ने मंत्रियों के इस निर्णय पर अनुकूल दृष्टिकोण नहीं अपनाया। कुछ मामलों में राजनीतिक नजरबन्दियों की रिहाई में विलम्ब किया गया तथा अनेक बार रिहाई के आदेश का राज्यपालों द्वारा पृष्ठांकन नहीं किया गया। ऐसी घटनाएँ भी हुईं, जबकि "शांति और व्यवस्था के प्रति" "गंभीर आपत्ति" बताकर महाराज्यपाल ने रिहाई के आदेश रद्द कर दिये।[24] राज्यपालों और महाराज्यपाल का यह दृष्टिकोण कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के लिए असहनीय था। इस प्रवृत्ति के रहते उनके पास यही एकमात्र विकल्प रह गया था कि वे अपने पदों से त्यागपत्र देकर ब्रिटिश सत्ता के प्रति अपना विरोध प्रकट करें। अन्ततोगत्वा, 15 फरवरी, 1938 ई. को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने त्यागपत्र दे दिये। कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के त्यागपत्र के साथ ही प्रान्तीय स्वायत्तता का एक अध्याय समाप्त हुआ। इससे प्रान्तों में पुनः संवैधानिक संकट खड़ा हो गया। कांग्रेस उच्चकमान द्वारा राज्यपालों की इस हस्तक्षेपवादी-प्रवृत्ति के प्रति रोष प्रकट करके इसकी निन्दा की गई। इतना ही नहीं 19 फरवरी से 21 फरवरी, 1938 ई. तक संपन्न हुए हरिपुरा के कांग्रेस अधिवेशन में कार्यसमिति द्वारा राज्यपालों के हस्तक्षेप के विरुद्ध विरोध प्रकट करते हुए उनसे राजनीतिक बन्दियों की रिहाई के निर्णय पर पुनर्विचार करने और वैधानिक दृष्टिकोण अपनाकर मंत्रियों की सलाह से कार्य करने की माँग की गई। महात्मा गाँधी ने राज्यपालों के दृष्टिकोण और कार्यवाही की निन्दा करते हुए उनसे संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करने की माँग की।[25] कांग्रेस की राय के स्पष्ट हो जाने बाद अब बारी महाराज्यपाल और राज्यपालों की थी कि वे इस संवैधानिक संकट को दूर करने के लिए अपनी तरफ से पहल करें। इस पर लार्ड लिनलिथगो ने एक बार पुनः हस्तक्षेप किया, और उनके प्रयासों से ही यह राजनैतिक संकट समाप्त हो गया। 25 फरवरी, 1938 ई. को संयुक्त-प्रान्त और बिहार के राज्यपालों ने राजनैतिक बंदियों के शेष मामलों पर अलग-अलग रूप से विचार करने तथा मंत्रियों की सलाह के अनुरूप आचरण करने की इच्छा व्यक्त की। कुछ दिनों बाद इन प्रान्तों के राज्यपालों और कांग्रेसी मुख्यमंत्रियों के बीच हुए समझौते के आधार पर इन मंत्रिमंडलों ने अपना कार्यभार पुनः ग्रहण किया।[26] इस घटनाक्रम से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेस नेतृत्व के सशक्त प्रतिरोध के कारण ही महाराज्यपाल और राज्यपालों को झुकना पड़ा और प्रान्तों में कांग्रेसी मंत्रिमंडलों की माँग स्वीकार करने के लिए मजबूर होना पड़ा।

इसी बीच उड़ीसा में भी एक संवैधानिक संकट उपस्थित हो गया। इस प्रान्त के राज्यपाल सर जान हुबाक (John Hubbak) अवकाश पर चले गये। उनका कार्यभार प्रान्त के राजस्व कमीश्नर श्री जे.आर. डेन को संभला कर उन्हें कार्यवाहक राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। प्रान्त के कांग्रेसी मंत्रिमंडल ने इसे उचित रूप में नहीं लिया, क्योंकि एक सचिव स्तर के व्यक्ति की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति उचित प्रतीत नहीं होती थी। अतः सर जान हुबाक के अवकाश को रद्द करके इस संकट का समाधान किया गया।[27]

मध्य-प्रान्त के राज्यपाल की कार्यवाही ने भी संवैधानिक संकट खड़ा कर दिया। प्रान्त के मुख्यमंत्री श्री एन.बी.खरे ने अपने मंत्रिमंडल का पुनर्गठन करने हेतु अपने दो मंत्रिमंडलीय-सहयोगियों से त्यागपत्र देने को कहा। लेकिन इन सहयोगियों ने मुख्यमंत्री की पेशकश को इस आधार पर ठुकरा दिया कि उन्हें कांग्रेस उच्च-कमान ने ऐसा करने के लिए आदेश प्रदान नहीं किया है। इस पर मुख्यमंत्री ने अपना त्यागपत्र दे दिया। राज्यपाल ने श्री खरे को मंत्रिमंडल के पुनर्गठन की स्वीकृति देते हुए, उन मंत्रियों को अपने पद से हटा दिया, जिन्होंने श्री खरे को त्यागपत्र देने से इन्कार कर दिया था। राज्यपाल की यह कार्यवाही कांग्रेस दल के मामलों में अनुचित हस्तक्षेप थी। यह दल में फूट डालने की साजिश थी। अतः कांग्रेस हाईकमान ने राज्यपाल के इस कार्य पर रोष प्रकट करते हुए उस पर कांग्रेस में फूट डालने का आरोप लगाया। कांग्रेस ने खरे के विरुद्ध भी अनुशासनात्मक-कार्यवाही की और उन्हें हटाकर उनके स्थान पर पण्डित रविशंकर शुक्ल को मध्य-प्रान्त का मुख्यमंत्री बना दिया।[28]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि कांग्रेसी प्रान्तों में राज्यपालों और महाराज्यपाल का प्रशासन में हस्तक्षेप था और वे मनचाहे तरीकों से कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों के सामने समस्या खड़ी करते थे। लेकिन कांग्रेसी मन्त्रिमण्डलों ने भी इस हस्तक्षेप का जबर्दस्त प्रतिरोध करते हुए हर स्तर पर इस प्रवृत्ति का विरोध किया। फलस्वरूप राज्यपालों को भी अपनी कार्यशैली में परिवर्तन करना पड़ा। उन्हें इन प्रान्तों के मंत्रिमंडलों के साथ समझौतावादी रुख भी अपनाना पड़ा। लेकिन राज्यपालों की स्वेच्छाचारिता की मनोवृत्ति बरकरार रही। महाराज्यपाल और भारत सचिव भी राज्यपालों को कांग्रेसी मंत्रिमंडलों के विरुद्ध प्रोत्साहित करते थे। फिर भी यह तो मानना ही पड़ेगा कि प्रतिकूल परिस्थितियों में भी कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने कार्यों से जनमत पर अच्छा प्रभाव छोड़ा। प्रान्तीय कांग्रेसी-मंत्रिमंडलों के सशक्त नेतृत्व और कांग्रेस उच्च-कमान की प्रखरता के कारण ही इन राज्यों के राज्यपालों को संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करने हेतु विवश होना पड़ा। मंत्रिमंडल के संयुक्त-उत्तरदायित्व के सिद्धान्त का भी विकास किया गया। प्रान्तीय विधानमंडलों की शक्तियों में भी वृद्धि हुई। वे स्वतंत्रतापूर्वक कार्य भी करने लगे। किसी भी मंत्रिमंडल का अपने पद पर बने रहने का आधार विधानमंडल में उसका बहुमत था। इस तरह से इस काल में राज्यपालों और कांग्रेसी मंत्रियों के बीच सहयोग, संघर्ष और समझौतावादी-मनोवृत्ति चलती रहीं।

गैर कांग्रेसी प्रान्तों में राज्यपालों का हस्तक्षेप बराबर बना रहा। उन्होंने इन प्रान्तों में अपना वर्चस्व बरकरार रखा। गैर कांग्रेसी प्रान्तों के राज्यपालों ने अधिकांश मामलों में अपनी इच्छानुसार कार्य किया और इच्छानुसार ही हस्तक्षेप की नीति अपनाई। इन प्रान्तों में कांग्रेस जैसा संगठित विरोधी दल भी नहीं था। बंगाल और सिन्ध के मंत्रिमंडल बड़े ही निर्बल और अस्थाई थे। अतः इन प्रान्तों के राज्यपाल बड़े प्रभावशाली रहे।[29] यहाँ राज्यपालों ने अपनी स्वेच्छाचारी-शक्तियों का खुलकर प्रयोग किया। राज्यपालों की स्वेच्छाचारी शक्तियों के विरुद्ध विद्रोह के स्वर भी उभर कर सामने आये। 16 नवम्बर,1942 ई. को बंगाल के वित्तमन्त्री डॉ. श्यामाप्रसाद मुखर्जी ने सरकार से त्यागपत्र देते हुए प्रान्त के राज्यपाल की स्वेच्छाचारिता पर करारे प्रहार किये। उन्होंने राज्यपाल पर प्रान्तीय स्वायत्तता को सारहीन बनाने, निष्पक्षता से कार्य नहीं करने और सरकारी अधिकारियों को अनुचित संरक्षण देने के आरोप लगाये।[30] उन्होंने राज्यपाल पर मुस्लिम लीग के साथ पक्षपात करने का आरोप[31] लगाते हुए यहाँ तक कह डाला कि राज्यपाल का उचित स्थान मुस्लिम लीग की बेन्चों पर है।[32] इन प्रान्तों के राज्यपालों ने मुस्लिम लीग को बढ़ावा देकर भारत- विभाजन की आधारभूमि तैयार कर दी थी। उनकी कार्यवाहियों से मुस्लिम साम्प्रदायिकता को भारी बढ़ावा मिला।

गैर कांग्रेसी प्रान्तों के राज्यपालों ने अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का भी निरंकुशतापूर्वक प्रयोग किया। 10 अक्टूबर, 1942 ई. को सिन्ध के राज्यपाल ने वहाँ के मुख्यमंत्री अल्लाह बख्श को बर्खास्त कर दिया। मार्च, सन् 1943 ई. में बंगाल के राज्यपाल ने वहाँ के मुख्यमंत्री श्री ए.के.फजजुलहक को त्यागपत्र देने के लिए विवश किया।[33] राज्यपालों की स्वेच्छाचारी शक्तियों का यह खुला प्रदर्शन यहीं तक सीमित नहीं रहा, अपितु उन्होंने इसकी अति भी कर दी। इन प्रान्तों के मुख्यमंत्रियों को अपने पद से बर्खास्त करने के बाद भी उनके सहयोगी मंत्रियों को अपने पदों पर बने रहने दिया गया। अपनी निरंकुशता वाली कार्यशैली का सहारा लेकर असम के राज्यपाल ने विधानसभा में पराजित मुख्यमंत्री को भी अपने पद पर बने रहने दिया। राज्यपालों की निरंकुशता का नग्न उदाहरण पंजाब की घटना के संदर्भ में देखा जा सकता है। भारत के महाराज्यपाल ने पंजाब के राज्यपाल से राजनीतिक कैदियों को रिहा करने के प्रश्न पर विचार-विमर्श किया। राज्यपाल ने प्रान्त के मुख्यमंत्री सर सिकन्दर हयात खां से किसी प्रकार का परामर्श किये बिना ही महाराज्यपाल को सूचित कर दिया कि पंजाब सरकार उनको रिहा नहीं करेगी। यह किसी प्रान्त के राज्यपाल द्वारा सफेद झूठ बोलने की असाधारण घटना थी। इससे राज्यपालों के स्तर की भी एक झलक मिलती है।

राज्यपालों ने अपनी कार्यशैली से स्वस्थ संसदीय परम्पराओं का विकास नहीं होने दिया। उन्होंने प्रान्तों में मंत्रिमंडलीय संयुक्त उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की उपेक्षा की। राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता के वातावरण को बढ़ावा दिया। इस राजनीति का सबसे बुरा प्रभाव सिन्ध को भुगतना पड़ा। सन् 1943 ई. तक सिन्ध में पाँच बार मंत्रिमंडल बनते गये और मिटते गये। कांग्रेस की राष्ट्रीय राजनीति के विरुद्ध मुस्लिम लीग की साम्मदायिकता को बढ़ावा देने में यहाँ के राज्यपालों की अहम् भूमिका रही। उन्होंने

मुस्लिम लीग के मंत्रिमंडलों के प्रति तुष्टीकरण की नीति अपनाते हुए उन्हें अनुचित रूप से प्रश्रय दिया। सिन्ध, बंगाल और उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त के राज्यपालों ने यही नीति अपनायी। राज्यपालों से प्रश्रय प्राप्त करके इन प्रान्तों के मुख्यमंत्री ऐसी अनुचित माँगें करने लगे जो कांग्रेस को दुविधा में डालने वाली थीं।

यूरोप में द्वितीय विश्वयुद्ध छिड़ने के साथ ही प्रान्तीय राजनीति में नया मोड़ आया। ब्रिटिश सरकार ने भारतीय नेताओं से परामर्श किये बिना ही भारत को मित्र-राष्ट्रों की तरफ से इस युद्ध में शामिल कर लिया। भारतीय नेताओं ने इसे अपना अपमान समझा। इस पर क्षुब्ध होकर कांग्रेसी उच्चकमान ने प्रान्तों में कार्य कर रहे कांग्रेसी मंत्रिमंडलों को त्यागपत्र देने के निर्देश दिये। फलस्वरूप सभी आठों कांग्रेसी मंत्रिमंडलों ने अपने पदों से त्यागपत्र दे दिये। सन् 1935 ई. के अधिनियम के अनुच्छेद 93 के अन्तर्गत इन प्रान्तों में राज्यपाल शासन लागू कर दिया गया। असम में वैकल्पिक सरकार का गठन किया गया। इन प्रान्तों में राज्यपाल शासन लागू होने के साथ ही राज्यपालों की स्थिति सर्वेसर्वा बन गई। इन प्रान्तों में राज्यपाल-उद्घोषणा — मद्रास में 30 अक्टूबर, 1939; बम्बई में 4नवम्बर, 1939; उत्तरी-पश्चिमी सीमा प्रान्त में 10नवम्बर, 1939; उड़ीसा में 6नवम्बर, 1939; मध्यप्रान्त में 10 नवम्बर, 1939; और संयुक्त प्रान्त में 3 नवम्बर, 1939; को की गई। गैर कांग्रेसी प्रान्तों में अनुच्छेद 93 के अन्तर्गत उद्घोषणा नहीं की गई थी। सिन्ध और उत्तरी पश्चिमी सीमा प्रान्त के राज्यपालों द्वारा इन प्रान्तों में गैर कांग्रेसी सरकारों का गठन करने के बाद अनुच्छेद 93 के अन्तर्गत की गई उद्घोषणा को वापस ले लिया गया।[35]

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि ब्रिटिश काल में राज्यपालों का आचरण स्वेच्छाचारी, अनुत्तरदायी और अमर्यादित था। राज्यपालों की इस निरंकुश शैली ने पहले द्वैध शासन व्यवस्था को असफल बनाया और उसके बाद प्रान्तीय स्वायत्तता को निरर्थक बना दिया। राज्यपालों की यह निरंकुश-शैली अस्वाभाविक नहीं थी, क्योंकि उनके पदों के निर्माण के पीछे उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को नहीं अपनाया गया था। अतः तत्कालीन परिस्थितियों में उनसे मर्यादित व्यवहार की अपेक्षा करना व्यावहारिक प्रतीत नहीं होता था। अतः प्रान्तीय राज्यपालों ने संवैधानिक तानाशाहों की भूमिका का निर्वाह करके स्वेच्छाचारिता का परिचय दिया। लेकिन इतना तो मानना ही पड़ेगा कि प्रान्तों में कार्य कर रहे कांग्रेसी-मंत्रिमंडलों ने न केवल राज्यपालों की निरंकुशता का कड़ा प्रतिरोध ही किया, अपितु अपनी दृढ़ संकल्प शक्ति से जनहित के अनेक कार्य सम्पादित किये। गैर-कांग्रेसी प्रान्तों में राज्यपालों की स्थिति न केवल पहल करने की ही थी, अपितु निर्णायक भी बन गई थी। ब्रिटिश काल में राज्यपालों की निरंकुश कार्यशैली से एक बात यह तो भली-भाँति स्पष्ट हो गई थी कि स्वतंत्र भारत में इस पद का निर्धारण करते समय नवीन दृष्टिकोण का परिचय देना होगा। राज्यपालों की यह संस्थागत स्थिति भारत की संघात्मक-व्यवस्था और प्रान्तों में प्रतिनिधित्व के सिद्धान्त के आधार पर निर्मित किये जाने वाली लोकतांत्रिक शासन व्यवस्था के अनुकूल नहीं थी।

संदर्भ

1. अप्पादोराई, ए. द्वैध शासन, इकबालनारायण द्वारा सम्पादित, भारतीय सरकार एवं राजनीति - एक लेख संकलन (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी,जयपुर, 1974) पृष्ठ, 25
2. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ, 27
3. केरल पुत्र, दी वर्किंग ऑफ डायार्की इन इण्डिया, पृ. 43
4. अप्पादोराई,ए., उपर्युक्त, पृष्ठ, 43
5. वर्मा, गोविन्दराम, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, (दि मैकमिलन कम्पनी ऑफ इण्डिया लिमिटेड,नई दिल्ली, 1977) पृष्ठ, 77
6. पुन्निया, के.वी., दी कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, पृष्ठ,192
7. सिंह, आर.एल. एवं विजयवर्गीय, सी. बी., भारतीय राजनीतिक व्यवस्था, (वन्दना प्रकाशन, अलवर, 1985), पृष्ठ, 273
8. तत्रैव ।
9. चिन्तामणि सी.वाई., एण्ड मसानी, एम.आर., इण्डियाज् कांस्टीट्यूशन एट वर्क (बम्बई, 1940) पृष्ठ, 93
10. जैन, पुखराज, भारतीय राज व्यवस्था, संवैधानिक विकास, (साहित्य भवन, आगरा, 1986),पृष्ठ40
11. कीथ, ए. बी., कान्स्टीट्यूशनल हिस्ट्री ऑफ इण्डिया, पृष्ठ, 278
12. पुन्निया, के.वी., उपर्युक्त, पृष्ठ 187-188
13. केरल पुत्र, उपर्युक्त, पृष्ठ, 39
14. अग्रवाल, आर.सी., भारत का संवैधानिक विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, स्वतंत्रता आन्दोलन का इतिहास (एस. चाँद एण्ड कम्पनी, नई दिल्ली, 1986) पृष्ठ, 227
15. कूपलैण्ड,आर., दी कांस्टीट्यूशनल प्रोब्लम इन इण्डिया, पार्ट प्रथम, पृष्ठ, 73
16. गुप्ता, डी.सी., भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, (विकास पब्लिशिंग हाउस प्रायवेट लिमिटेड, नई दिल्ली,1977) पृष्ठ, 173
17. आयंगर, एन. राजगोपाला, दि गवर्नमेन्ट ऑफ इण्डिया एक्ट,1935, विथ ए क्रिटीकल एण्ड एक्सप्लेनेटरी कमेन्ट्री (मद्रास, 1973) पृष्ठ, 75
18. दहिया, एम.एस., ऑफिस ऑफ दि गवर्नर इन इण्डिया, (ए क्रिटीकल कमेन्टरी), सन्दीप प्रकाशन, नई दिल्ली, 1979, पृष्ठ, 23
19. अग्रवाल, आर.सी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 315
20. दहिया, एम.एस., उपर्युक्त, पृष्ठ, 23
21. गुप्ता, डी.सी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 175
22. सिंह,पुरुषोत्तम, गवर्नर्स ऑफिस इन इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया [नवयुग साहित्य मंदिर, वैद्यनाथ देवघर (एस.पी.), बिहार, 1968] , पृष्ठ, 29-30
23. गुप्ता, डी.सी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 175
24. तत्रैव, पृष्ठ, 176
25. सिंह, पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ, 30
26. बनर्जी, ए.सी. द्वारा सम्पादित,इण्डियन कान्स्टीट्यूशनल डोक्यूमेन्ट्स, वोल्यूम द्वितीय, पृष्ठ, 342-343

27. दहिया, एम.एस., उपर्युक्त, पृष्ठ, 22
28. राय, डॉ. एम.पी., भारत सरकार एवं राजनीति, (कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1981), पृष्ठ, 104
29. तत्रैव, पृष्ठ,105
30. अग्रवाल,आर.सी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 314
31. सिंह,पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ, 31
32. राय, डॉ. एम.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 106
33. दहिया, एम.एस., उपर्युक्त, पृष्ठ, 22
34. चटर्जी,अमिता, दी कांस्टीट्यूशनल डवलपमेन्ट इन इण्डिया, 1937-47 (कलकत्ता, 1958), पृष्ठ, 44
35. सिंह, पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ, 31

अध्याय - 4

संविधान निर्माताओं की परिकल्पना

भारतीय संविधान का निर्माण महान् संविधान सभा द्वारा किया गया। संविधान सभा की कार्यप्रणाली को प्रभावित करने में कांग्रेस दल की अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भूमिका रही। आइवर जैनिंग्स ने संविधान सभा को 'कांग्रेस सभा' का नाम दिया। संविधान सभा पर कांग्रेस के प्रभाव को सुन्दर रूप से विश्लेषित करते हुए डॉ. जे.सी. जोहरी ने लिखा है कि यह एक क्रियाशील-सार्वभौमिक संविधान सभा के रूप में कार्य करने के अतिरिक्त देश की संसद्, और अन्तरिम सरकार बन चुकी थी, अर्थात् कांग्रेस सभी कुछ थी — दल, सरकार, संविधान सभा — यहाँ तक कि देश।'[1] संविधान के निर्माण में कांग्रेस के चार बड़े नेताओं — सर्वश्री राजेन्द्र प्रसाद, पंडित जवाहरलाल नेहरू, सरदार वल्लभभाई पटेल और मौलाना अबुलकलाम आजाद की प्रभावी भूमिका रही। लेकिन संविधान सभा में सबसे प्रभावी भूमिका का निर्वाह किया — डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने। उनकी महान् भूमिका के कारण उन्हें 'संविधान के पिता' की संज्ञा से भी विभूषित किया जाता है। वे संविधान की सबसे महत्वपूर्ण समिति, प्रारूप समिति के अध्यक्ष थे। प्रारूप समिति में देश के प्रमुख संविधानवेत्ता सम्मिलित थे। इनमें उल्लेखनीय थे — सर्वश्री के.एम. मुंशी, टी.टी. कृष्णामाचारी, एन.गोपालास्वामी आयंगर और अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर। प्रान्तीय स्वरूप और राज्यपालों से सम्बन्धित प्रावधानों को प्रभावित करने में प्रारूप समिति के सदस्यों की अहम् भूमिका रही। परन्तु यहां यह उल्लेखनीय माना जाना चाहिए कि कांग्रेस कार्यकारिणी समिति ही सत्ता की वास्तविक केन्द्र थी। उच्च कांग्रेसी नेताओं द्वारा लिये गये निर्णयों पर ही प्रारूप-समिति द्वारा लिए गए महत्त्वपूर्ण निर्णय आधारित थे।[2] इस तरह से संविधान सभा द्वारा लिये गये निर्णयों पर कांग्रेस की विचारधारा का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है।

संविधान सभा द्वारा संघीय व्यवस्था का संयोजन अत्यन्त कुशलतापूर्वक किया गया। इस कार्य को सम्पादित करने हेतु तीन महत्त्वपूर्ण समितियों — प्रान्तीय संविधान समिति, संघ संविधान समिति और संघ शक्ति-समिति — का गठन किया गया । इन समितियों ने भारत में आदर्श संघीय व्यवस्था का संयोजन करने की दिशा में अथक परिश्रम किया। इन समितियों द्वारा राज्यपाल संस्था के स्वरूप के विभिन्न पहलुओं पर

गहन रूप से विचार किया गया। संविधान के छठे भाग में राज्यों से सम्बन्धित प्रावधानों का वर्णन मिलता है। संविधान का निर्माण करते समय हमारे संविधान निर्माताओं का उद्देश्य एक सुदृढ़ केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना था, अतः उन्होंने अपना बहुत अधिक समय केन्द्रीय सरकार से सम्बन्धित उपबन्धों पर विचार करने में लगाया। राज्यों से सम्बन्धित धाराओं पर बहुत शीघ्र और अल्प समय में ही विचार हुआ। राज्यों से सम्बन्धित धाराएँ 30 जून, 1949 अर्थात् केवल चार दिनों के विचार-विमर्श के बाद ही पारित कर दी गयीं।[3] बी. पोकर साहब ने इस पर अपना असन्तोष व्यक्त करते हुए कहा था, मेरे विचार में बहुत से ऐसे मामले हैं, जिन पर यह सदन गंभीरतापूर्वक विचार नहीं कर रहा है। हमें बोलने से पहले ही बैठने के लिए कह दिया जाता है, हमें उन भाषणों को सुनने के लिए कहा जा रहा है, जिसको हम नहीं समझते। उन चीजों को पारित किया जा रहा है,जो हमारी समझ के बाहर हैं ।[4] इन आपत्तियों को निरस्त करते हुए संविधान सभा के अध्यक्ष डॉ. राजेन्द्र प्रसाद का उत्तर था — इनमें से बहुत सी धाराएँ बहुत हद तक उन्हीं धाराओं की पुनरावृत्ति मात्र हैं, जिनको कुछ ही दिनों पहले पारित किया गया है।[5] निस्संदेह संविधान निर्माता इस देश में अत्यन्त सशक्त केन्द्रीय सरकार की स्थापना करना चाहते थे। अतः राज्यों से सम्बन्धित विचार को प्राथमिकता नहीं दी गई।

ब्रिटिश शासन की परम्परा होने के बावजूद भी राज्यपाल संस्था स्वतंत्र भारत की संवैधानिक आवश्यकता बन गई। सन् 1935 ई. के अधिनियम द्वारा ब्रिटिश प्रान्तों में लागू की गई प्रान्तीय स्वायत्तता की व्यवस्था से पीछे हटने का कोई प्रश्न ही नहीं था। स्वाधीनता से पूर्व के इस संवैधानिक-तंत्र में भारत में संघात्मक व्यवस्था की स्थापना की गई। अतः यह स्वाभाविक ही था कि प्रत्येक संघीय इकाई का प्रशासनिक स्तर पर अपना अध्यक्ष हो ।[6] इस तरह से ब्रिटिशकाल की संघीय व्यवस्था ने राज्यपाल संस्था के विकास को अपरिहार्य बना दिया। इस प्रकार से राज्यपाल पद की परिकल्पना करते समय संविधान निर्माताओं पर ब्रिटिशकाल में पारित सन् 1935 ई. के अधिनियम का गहरा प्रभाव पड़ा। अतः संविधान निर्माताओं ने 1935 ई. के अधिनियम में पूर्व निहित राज्यपाल संस्था को नवीन भारत के संविधान में भी अपनाना स्वीकार कर लिया लेकिन, राज्यपाल पद से सम्बन्धित 1935 ई. के अधिनियम के प्रावधानों को प्रस्तावित संवैधानिक ढाँचे में अक्षरशः अपनाया नहीं जा सकता था। संघ और इसकी इकाइयों में सरकार के संसदीय स्वरूप को प्रस्तावित किया जाना था। अतः इन इकाइयों के अध्यक्षों को संवैधानिक और नाममात्र का दर्जा प्रदान किया जाना था।[7]

राज्यपाल संस्था का निरूपण करते समय संविधान निर्माताओं द्वारा देश की एकता, अखंडता और सुरक्षा के दृष्टिकोण को भी ध्यान में रखा गया था। वे चाहते थे कि संघ की इकाइयों पर सभी दृष्टियों से केन्द्र का वर्चस्व रहे। देश की तत्कालीन परिस्थितियों में उनका यह चिन्तन सामयिक ही था। अतः इस दृष्टि से केन्द्रीय सरकार को प्रत्येक संघीय इकाई के लिए अपनी स्वयं की संस्था की आवश्यकता थी। प्रस्तावित संविधान में राज्यपाल पद से सम्बन्धित प्रावधानों को इसी दृष्टि से देखा जाना चाहिए।[8] निस्संदेह,

संघीय सरकार राज्यपालों के माध्यम से ही राज्य सरकारों पर अपनी सत्ता का विस्तार कर सकती थी। इस उद्देश्य को दृष्टिगत रखकर ही राज्यपाल संस्था का स्वरूप निर्धारित किया गया।

गहन विचार

संविधान निर्माताओं ने राज्यों से सम्बन्धित संवैधानिक पहलुओं पर बहुत कम विचार करने के बावजूद भी राज्यपालों से सम्बन्धित उपबन्धों पर गंभीरतापूर्वक विचार किया। प्रान्तीय संविधान पर अंतिम रूप से विचार करते समय राज्यों से सम्बन्धित मामलों पर चार में से तीन दिनों तक राज्यपाल पद पर ही विचार-विमर्श किया गया ।[9] देश की सामयिक परिस्थितियों के साथ-साथ संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण में भी परिवर्तन आता गया। राज्यपाल पद से सम्बन्धित प्रावधानों में इसको अच्छी तरह से परिलक्षित किया जा सकता है। भारतीय संविधान के प्रसिद्ध विद्वान के.संथानम् के मत में सन् 1946 ई. में संविधान सभा ने आंशिक और दुर्बल संघीय व्यवस्था की परिकल्पना की थी, किन्तु अनायास ही यह परिकल्पना अत्यन्त सुदृढ़ संघीय व्यवस्था और मजबूत केन्द्र के चरम-बिन्दु पर पहुँच गई ।[10] इस नवीन परिकल्पना के संदर्भ में राज्यपाल से सम्बन्धित प्रावधानों में परिवर्तन अपरिहार्य था। इसको राज्यपाल संस्था के निर्माण से सम्बन्धित प्रावधानों के बदलाव में परिलक्षित किया जा सकता है।

सन् 1947 ई. में संविधान सभा ने आदर्श प्रान्तीय संविधान के विचार को मान्यता प्रदान की। इस संविधान में निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था की गई थी। परन्तु जब मई-जून, सन् 1949 ई. में प्रान्तीय संविधान से सम्बन्धित धाराएँ अन्तिम रूप से पारित की गईं तो यह व्यवस्था राष्ट्रपति द्वारा नामजद राज्यपाल के दृष्टिकोण में बदल गई।[11] 30 अप्रैल, सन् 1947 ई. के संविधान सभा के प्रस्ताव के अनुरूप आदर्श प्रान्तीय संविधान के सिद्धान्त निश्चित करने के लिए सरदार पटेल के नेतृत्व में 21 सदस्यीय समिति की नियुक्ति की गई। 6 जून, सन् 1947 ई. को संविधान सभा की बैठक में कुछ सदस्यों का मत था कि राज्यपाल को संयुक्त राज्य अमरीका के राज्यपाल की तरह ही कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकार प्राप्त हों। राज्यपाल स्वयं अपनी मंत्रिपरिषद् को नामजद करे जो विधानमंडल के प्रति उत्तरदायी नहीं होकर, उसके प्रति उत्तरदायी हो। राज्यपाल का चुनाव भी सार्वजनिक वयस्क मताधिकार प्रणाली द्वारा हो। दूसरा, बहुत से सदस्यों का मत था कि राज्यपाल की नियुक्ति अप्रत्यक्ष चुनाव प्रणाली से की जाये। वह संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में विधानसभा के प्रति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् की सलाह से कार्य करे। और, तीसरे अनेक सदस्यों की राय थी कि राष्ट्र की एकता को बनाये रखने और केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के लिए यह आवश्यक है कि राज्यपाल की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा की जाये।[12] इस तरह से संविधान सभा में राज्यपाल से सम्बन्धित अनेक प्रकार की अवधारणाएँ और विचार सामने आये।

7 जून, सन् 1947 ई. को प्रान्तीय और संघीय संविधान सभा की संयुक्त बैठक में यह निर्णय लिया गया कि भारत स्वायत्तशासी-राज्यों का संघ होगा। राज्यपाल की नियुक्ति और अधिकारों के बारे में निम्नलिखित सिफारिशें की गई थीं। प्रथम, राज्यपाल का प्रान्तीय प्रशासन में सर्वोच्च स्थान होगा। द्वितीय,राज्यपालों की नियुक्ति केन्द्रीय सरकार द्वारा नहीं की जाकर सम्बन्धित प्रान्तीय सरकार द्वारा होगी। तृतीय, प्रान्तों में संसदीय कार्यपालिका होगी,और चतुर्थ, वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचक मंडलों द्वारा अप्रत्यक्ष चुनाव पद्धति द्वारा राज्यपाल का चुनाव किया जाएगा।

11 जून, सन् 1947 ई. को प्रान्तीय संविधान समिति ने अपनी बैठक में निम्नलिखित निर्णय किये। प्रथम, राज्यपाल का चुनाव वयस्क मताधिकार प्रणाली से हो। द्वितीय, विधानसभा की अवधि के समान राज्यपाल के कार्यकाल की अवधि भी चार वर्ष हो, और तृतीय, राज्यपाल की निर्वाचन प्रणाली भी विधानसभा के सदस्यों की चुनाव पद्धति की तरह ही हो।[13] इस तरह से विचार-विमर्श में राज्यपाल संस्था के संस्थागत स्वरूप सम्बन्धी विचार स्पष्ट हुए।

जुलाई, सन् 1947 ई. में संविधान सभा ने मॉडल प्रान्तीय संविधान के सिद्धान्त निश्चित करते समय राज्यपालों की स्थिति में चार उपबन्ध निश्चित किये। ये थे— प्रथम, राज्यपाल के निर्वाचन के लिए वयस्क मताधिकार पर आधारित निर्वाचन प्रणाली को स्थान दिया गया। राज्यपाल का कार्यकाल भी चार वर्ष निर्धारित किया गया। इस अवधि में उसे महाभियोग की शक्ति के माध्यम से हटाया जा सकता था। द्वितीय, उपराज्यपाल के पद को स्वीकार किया गया। तृतीय, राज्यपाल को अपने गैर विवेकाधीन कार्य को संपन्न करने में सलाह और सहायता प्रदान करने हेतु एक मंत्रिपरिषद् होगी। वर्णित उपबन्धों में यह भी स्पष्ट था कि मंत्रियों की नियुक्ति और उनसे सम्बन्धित प्रश्नों पर राज्यपाल उत्तरदायी सरकार के आदर्शों का अनुसरण करेगा। और, चतुर्थ, निम्नलिखित विषयों पर राज्यपाल अपने विवेकाधीन अधिकारों का उपयोग करेगा — शांति और व्यवस्था को भंग होने से रोकने के लिए, प्रान्तीय विधानमंडल का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने और विघटन करने के सम्बन्ध में, प्रान्तीय विधानसभा के लिए चुनाव का पर्यवेक्षण, मार्गदर्शन तथा नियंत्रण, और प्रान्तीय लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं सदस्यों, तथा राज्य के ऑडीटर-जनरल की नियुक्ति के सम्बन्ध में।[14]

उपर्युक्त विश्लेषण में, संयुक्त राज्य अमरीका के समान निर्वाचित राज्यपाल और ब्रिटेन की भाँति उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् की झलक मिलती थी। इस चर्चा के समय प्रान्तीय संविधान समिति के अध्यक्ष सरदार पटेल ने कहा था कि इस संविधान में संसदीय सरकार की व्यवस्था होगी।[15] राज्यपाल के विवेकाधीन अधिकारों की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा था कि प्रान्त में शांति और व्यवस्था भंग होने पर राष्ट्रपति को इस आशय का प्रतिवेदन भेजने और विधानसभा का सत्र बुलाने तथा विघटन करना ही राज्यपाल का एकमात्र अधिकार होगा।[16] यह पूछे जाने पर कि इतने सीमित अधिकारों वाले राज्यपाल के लिए प्रत्यक्ष चुनाव पद्धति को क्यों स्वीकार किया गया है? तो सरदार पटेल ने

अपने प्रत्युत्तर में कहा कि प्रथम, उसके पद के स्तर और गरिमा को देखते हुए यह अत्यन्त आवश्यक है कि उसे सभी वर्गों का समर्थन प्राप्त हो।[17] द्वितीय, जब उसका निर्वाचन प्रत्यक्ष रूप से जनता द्वारा होगा तो वह अपने विवेकाधीन अधिकारों के प्रयोग में असावधानी नहीं बरतेगा।[18] अपने दृष्टिकोण में प्रान्तीय संविधान समिति यह अनुभव करने में असफल रही थी कि निर्वाचित राज्यपाल उत्तरदायी मंत्रिपरिषद् की तुलना में अधिक अधिकारों के प्रयोग की आकांक्षा रखेगा। समिति की इस धारणा ने राज्यपालों की स्थिति को सन् 1935 के अधिनियम जैसी बना दिया।[19] इस तरह से संविधान सभा में राज्यपाल पद के सम्बन्ध में सांगोपांग विश्लेषण किया गया था।

दृष्टिकोण में परिवर्तन

संविधान निर्माताओं के ये विचार स्थिर नहीं रह सके। समय और परिस्थिति की चुनौतियों ने संविधान निर्माताओं के विचारों को प्रभावित किया। तेजी से परिवर्तित हो रही तत्कालीन राजनीतिक परिस्थितियों ने भी संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण में शीघ्र ही परिवर्तन उपस्थित कर दिया। देश के विभाजन के बाद मुस्लिम लीग का भारतीय राजनीति से पटाक्षेप होना और सरदार पटेल के राजनीतिक चातुर्य और कुशल नेतृत्व में शांतिपूर्ण ढँग से देशी रियासतों का भारतीय संघ में विलय भारतीय राजनीति की महत्त्वपूर्ण घटनाएँ थीं। इन दोनों ही परिवर्तनों ने भारतीय संघीय व्यवस्था को दृढ़ता प्रदान की। इसके साथ ही देश में साम्प्रदायिकता के वातावरण, भारी संख्या में आये शरणार्थियों के पुनर्वास की समस्या तथा देश के आर्थिक विकास की आवश्यकता ने सशक्त केन्द्र की व्यवस्था को अपरिहार्य बना दिया। इस घटनाचक्र की वास्तविकता को अंगीकार करके हमारे संविधान निर्माताओं ने 'दुर्बल संघीय व्यवस्था' को त्यागकर अर्थात् 'स्वायत्तशासी प्रान्तों के संघ' के स्थान पर 'राज्यों के संघ' का आदर्श स्वीकार किया। संविधान निर्माताओं के दृष्टिकोण में परिवर्तन के साथ ही राज्यपालों की नियुक्ति, कार्य, शक्तियों, तथा उनकी भूमिकाओं से सम्बन्धित प्रावधानों में काफी परिवर्तन किया गया। इसमें भी राज्यपाल की नियुक्ति और हटाने से सम्बन्धित उपबन्धों पर ही विशेष ध्यान दिया गया। जहाँ प्रान्तीय संविधान में निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था थी, वहाँ नवीन दृष्टिकोण में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल का उल्लेख था। जहाँ प्रान्तीय संविधान में महाभियोग की प्रक्रिया द्वारा राज्यपाल को हटाया जा सकता था, वहाँ इस बार राष्ट्रपति को उसे हटाने का अधिकार प्राप्त था।[20] इन परिवर्तनों का समर्थन करते हुए सर अल्लादी कृष्णा स्वामी अय्यर ने निम्नलिखित आधारों पर निर्वाचित राज्यपाल का विरोध किया था— प्रथम, राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष है और वास्तविक कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ राज्य मंत्रिपरिषद् में निहित होती है। राज्यपाल की यह संवैधानिक स्थिति भी निर्वाचित स्थिति से असंगत होगी। द्वितीय, अगर राज्यपाल जनता द्वारा प्रत्यक्ष निर्वाचित होगा तो जनता के प्रतिनिधियों (मुख्यमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों) के साथ अवांछित संघर्ष और तनाव की स्थिति उत्पन्न होगी।[21] बहुत से अवसरों पर राज्यपाल अपने अधिकारों से आगे बढ़कर भी शक्तियों का प्रयोग कर सकता है। शक्तियों के दुरुपयोग का यह भय राज्यपाल की

नामजदगी के विचार को ही पुष्ट करता है, न कि निर्वाचित राज्यपाल के दृष्टिकोण को। मंत्रिपरिषद् की सलाह से राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यपाल अपने अधिकारों के प्रयोग में सतर्कता बरतेगा।[22] संविधान सभा के अनेक सदस्यों का यह भी मत था कि राज्यपाल का निर्वाचन प्रान्तीय विधानसभा करे या विधानसभा का निचला सदन राष्ट्रपति के सम्मुख एक 'पैनल' प्रस्तुत करे और उसी में से राष्ट्रपति राज्यपाल पद पर व्यक्तियों की नियुक्ति करे। सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने उपर्युक्त तीनों आधारों पर इस मत का भी विरोध किया।[23] बी.एन.राव ने प्रान्तीय संविधान समिति को दिये गये अपने 'स्मरणपत्र' में निर्वाचित राज्यपाल का सुझाव दिया।[24] डॉ. के. एन. काटजू ने भी अमरीकन-पद्धति के अनुसार चार वर्षों तक के लिए निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था का समर्थन किया।[25] संविधान सभा में सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने राष्ट्रपति द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति करने का समर्थन किया। उनके अनुसार वह मंत्रिमंडल के मित्र, और मध्यस्थ के रूप में कार्य करके प्रारम्भिक रूप में मंत्रिमंडलीय सरकार का सुचारुरूप से संचालन कर सकेगा।[26] उनका विचार था कि इससे केन्द्र और राज्यों में निकट संपर्क रहेगा।[27] डॉ. पी.सी. देशमुख का भी विचार था कि एक निर्वाचित राज्यपाल राज्य के मुख्यमंत्री के साथ मिलकर केन्द्र की सत्ता को चुनौती दे सकता है।[28] श्री कन्हैयालाल माणिक्यलाल मुंशी ने भी इसी आशय का विचार प्रकट करते हुए कहा कि एक निर्वाचित राज्यपाल अपने को दलगत राजनीति से ऊपर नहीं रख सकेगा, जबकि नामजद राज्यपाल से ऐसी आशा रखी जा सकती है। जब मुख्यमंत्री पद के लिए संघर्ष की स्थिति हो तो प्रान्त की राजनीति में सक्रिय व्यक्ति के स्थान पर प्रान्त की राजनीति से विलग रहने वाला व्यक्ति अधिक उपयुक्त होगा।[29] पंडित जवाहरलाल नेहरू का भी मत था कि निर्वाचित राज्यपाल के माध्यम से राज्य में पृथकतावादी शक्तियों को बल मिलेगा।[30] उनके मत में अल्पसंख्यक वर्ग को निर्वाचन की अपेक्षा नामजदगी की प्रक्रिया में अधिक अवसर प्राप्त होंगे। नामजदगी की प्रक्रिया अन्य प्रक्रियाओं की अपेक्षा अधिक लोकतांत्रिक है।[31] संविधान सभा में टी.टी. कृष्णामाचारी ने भी निर्वाचित राज्यपाल संस्था को संसदीय लोकतंत्र में असंगत बताया। उनका विचार था कि यदि हम अध्यक्षात्मक शासन प्रणाली को स्वीकार करते हैं तो निर्वाचित राज्यपाल की पद्धति को अपनाना होगा। संसदीय प्रजातंत्र में, मुख्यमंत्री की स्थिति सर्वोच्च होती है। वह विधानसभा के प्रति उत्तरदायी होता है। अतः इस व्यवस्था में राज्यपाल का नामांकन आवश्यक है, और तर्कपूर्ण है। इसलिए हमें नामजद राज्यपाल की धारणा को अपनाना होगा।[32] लेकिन श्री रोहितकुमार चौधरी एवं श्री शिब्बनलाल सक्सेना ने राष्ट्रपति द्वारा नामजद राज्यपाल के प्रावधान का विरोध किया। इस तरह संविधान सभा के अधिकांश सदस्य राष्ट्रपति द्वारा नामजद राज्यपाल के समर्थक थे। अतः भारतीय संविधान में इसी विचार को अपनाया गया।

संविधान सभा द्वारा भारतीय संविधान में उपराज्यपाल की व्यवस्था नहीं की गई। अधिकांश राज्यों में एकसदनीय विधानमंडल की व्यवस्था होने के कारण ही उपराज्यपाल संस्था का निर्माण नहीं किया गया। उपराज्यपाल को विधानमंडल के द्वितीय सदन का पदेन अध्यक्ष नहीं बनाया जा सकता था। अतः राज्यपाल के होते हुए उपराज्यपाल के

पास कोई कार्य नहीं था। अतः संविधान सभा ने प्रारूप-समिति के सुझाव को स्वीकार करते हुए उपराज्यपाल की व्यवस्था नहीं की। [34] इस तरह से संविधान निर्माताओं ने राष्ट्रपति द्वारा मनोनीत राज्यपाल की व्यवस्था को स्थान दिया।

संविधान सभा में राज्यपालों की शक्तियों पर भी पर्याप्त रूप से विचार किया गया। वे राज्यपालों को अनियंत्रित और अमर्यादित शक्तियाँ प्रदान करने के पक्षपाती नहीं थे। वे जहाँ एक तरफ उसे राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में सीमित रखना चाहते थे तो दूसरी तरफ उसे ऐसी शक्तियाँ भी प्रदान करना चाहते थे जिससे कि वह राज्य में केन्द्रीय-प्रतिनिधि की भूमिका का निर्वाह कर सके। इस पर प्रकाश डालते हुए डॉ. भीमराव अम्बेडकर ने कहा था कि राज्यपालों में शक्तियों का अधिवास नहीं है, उन्हें तो केवल कर्त्तव्यों का निष्पादन करना है। उन्होंने राज्यपाल के दो कर्त्तव्य बताये थे — प्रथम, मंत्रिमंडल की सत्ता को बनाये रखना और स्वयं यह निर्धारित करना कि वह अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का कब उपयोग करे। और, द्वितीय, मंत्रिमंडल को सलाह देना, चेतावनी देना, प्रोत्साहन देना, विकल्प सुझाना तथा उससे पुनर्विचार की माँग करना। [35] टी.टी. कृष्णामाचारी का मत था कि "राज्यपाल केवल संवैधानिक अध्यक्ष है, जिसके पास वास्तविक प्रशासन में हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं है।" [36] श्री के.एम. मुंशी के मत में राज्यपाल को मंत्रिमंडल की इच्छा के विरुद्ध काम करने का कोई अधिकार नहीं है। उसकी स्थिति वैसी ही है, जैसी ब्रिटेन में राजा अथवा रानी की।[37] श्री एच.वी. कामथ के मत में, उसकी स्थिति उस कठपुतली से कुछ अधिक है, जिसे एक तरफ से मुख्यमंत्री नियंत्रित करता है तथा दूसरी तरफ से राष्ट्रपति, जिसका वास्तविक अर्थ है प्रधानमंत्री।[38] सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर के शब्दों में, "राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष है, और वास्तविक कार्यपालिका शक्तियाँ राज्य मंत्रिपरिषद् में निहित होंगी।" इस तरह से संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल से दोहरी भूमिका की अपेक्षा की थी।

संविधान सभा में राज्यपालों के वेतन-भत्तों पर भी विचार किया गया। संविधान के अनुच्छेद 158 (3) में इस बात का स्पष्ट उल्लेख किया गया है कि भारतीय संसद् को इस बारे में अंतिम रूप से निर्धारित करने का अधिकार होगा। संविधान में यह भी स्पष्ट कर दिया गया है कि संसद जब चाहे इनमें परिवर्तन कर सकती है। लेकिन संविधान के अनुच्छेद 158 (4) में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्यपाल के कार्यकाल में उसके वेतन और भत्तों को कम नहीं किया जा सकता है, लेकिन उनमें वृद्धि करने पर कोई रोक नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 158 (1) में इसका भी उल्लेख किया गया है कि यदि राज्यपाल दो या दो से अधिक राज्यों के लिए नियुक्त किये जाते हैं तो उनके वेतन एवं भत्ते इत्यादि राष्ट्रपति के आदेश से उन समस्त राज्यों के बीच प्रभावी होते हैं, जिनके लिए वे नियुक्त किये जाते हैं। इस तरह से संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल संस्था को पर्याप्त आर्थिक संरक्षण प्रदान किया।

संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल संस्था की गरिमा और प्रतिष्ठा को कायम रखने के लिए भी उन्हें अनेक प्रकार की उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार प्रदान किये। संविधान

के अनुच्छेद 368 (1) के अन्तर्गत राज्यपाल को अपने पद से प्राप्त अधिकारों और कर्त्तव्यों का निर्वाह करने के लिए किसी भी न्यायालय में उत्तरदायी या जवाबदेह नहीं बनाया जा सकता। उसे न्यायालय में इसके लिए गवाही देने हेतु भी मजबूर नहीं किया जा सकता है। इस तरह से उसे न्यायिक हस्तक्षेप से मुक्त रखा गया है। अनुच्छेद 368 (2) में यह निर्धारित किया गया है कि राज्यपाल के विरुद्ध उसकी पद की अवधि में देश के किसी भी न्यायालय में कोई दीवानी या फौजदारी मुकदमा नहीं चलाया जा सकता है। अनुच्छेद 368 (3) के तहत यह प्रावधान रखा गया है कि राज्यपाल को उसके कार्यकाल की अवधि में देश के किसी भी न्यायालय द्वारा उसे बंदी बनाने और जेल में डालने सम्बन्धी आदेश जारी नहीं किया जा सकता है। लेकिन ये उन्मुक्तियाँ और विशेषाधिकार उसे अपने पद पर बने रहने तक ही प्राप्त होती हैं। ज्योंही वह अपने पद से निवृत्त होता है, उसके साथ ही इन सुविधाओं का भी अन्त हो जाता है। इस तरह से ये विशेषाधिकार राज्यपाल को अनावश्यक विवादों और कठिनाइयों से मुक्त रखते हैं।

बहुमुखी भूमिका की अपेक्षा

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान निर्माताओं का दृष्टिकोण राज्यपाल संस्था की रचना करते समय सृजनात्मक और दायित्व-प्रेरित था। उन्होंने निर्वाचित राज्यपाल के स्थान पर संघीय सरकार द्वारा मनोनीत राज्यपाल की व्यवस्था करके प्रान्तों पर संघीय-सरकार की सर्वोच्चता के सिद्धान्त का प्रतिपादन किया। संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल से प्रान्तीय प्रशासन में सकारात्मक और उद्देश्यपरक भूमिका की अपेक्षा की थी। उन्होंने उससे बहुमुखी दायित्व-निर्वाह करने की अपेक्षा भी की थी। संविधान में वर्णित प्रावधानों के आधार पर राज्यपाल निम्नलिखित प्रकार की भूमिकाओं का निर्वाह कर सकता है— प्रथम, एक दुर्बल और साधु प्रकृति का राज्यपाल केवल नाममात्र का संवैधानिक प्रधान ही हो सकता है, द्वितीय, एक प्रतिभाशाली और प्रभावशाली राज्यपाल से मंत्रिमंडल के निर्माता, पथ-प्रदर्शक, सलाहकार और मित्र के रूप में आशा की जा सकती है। तृतीय, एक राज्यपाल से कुशल प्रशासक अथवा लोकपाल की भी अपेक्षा की जा सकती है। चतुर्थ, एक सजग और कर्त्तव्यनिष्ठ राज्यपाल से यह अपेक्षा की जा सकती है कि वह केन्द्र और राज्यों के बीच मधुरतम सम्बन्धों के विकास में दलगत राजनीति से ऊपर उठकर आचरण करे। पंचम, दलगत राजनीति में सक्रिय राज्यपाल उग्र विवाद और आलोचना का पात्र भी बनाया जा सकता है। और, एक महत्त्वाकांक्षी राज्यपाल अपने विवेकाधीन अधिकारों की आड़ में संविधान की पवित्र भावना का हनन करने का भी दुस्साहस कर सकता है।[39]

अन्त में, यह कहा जा सकता है कि संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल पद का एक 'उपयोगी पद' के रूप में सृजन किया। साथ ही इस पद की गरिमा और प्रतिष्ठा को सुरक्षित रखने की भी उपयुक्त व्यवस्था की। संविधान निर्माता चाहते थे कि राज्यपाल भारतीय संघीय व्यवस्था की स्थिरता और सुदृढता को अक्षुण्ण रखने के लिए कार्य करें।

संदर्भ

1. जोहरी, जे.सी., भारतीय शासन और राजनीति, (विशाल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1975), पृष्ठ, 40
2. तत्रैव, पृष्ठ, 41
3. जैन, धर्मचन्द, संविधान सभा और राज्यपाल पद परिकल्पना, संसदीय पत्रिका (लोकसभा सचिवालय का प्रकाशन) जुलाई-सितम्बर, 1979, पृष्ठ, 24
4. तत्रैव, एवं संविधान सभा वाद-विवाद, भाग ए, पृष्ठ, 651-652
5. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 8, पृष्ठ, 531
6. सिंह, पुरुषोत्तम, गवर्नर्स ऑफिस इन इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया,(नवयुग साहित्य मंदिर, वैद्यनाथ देवधर (एस.पी.) बिहार, 1968) पृष्ठ, 34
7. तत्रैव ।
8. तत्रैव ।
9. जैन, धर्मचन्द, उपर्युक्त, पृष्ठ, 24
10. संथानम्, के., भारत में केन्द्र-राज्य सम्बन्ध (एशिया पब्लिशिंग हाउस, बम्बई, 1960), पृष्ठ, 60
11. जैन, धर्मचन्द, उपर्युक्त ।
12. तत्रैव, पृष्ठ, 25
13. तत्रैव ।
14. तत्रैव, पृष्ठ, 26
15. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 2, पृष्ठ, 578
16. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 2, पृष्ठ, 579
17. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 2, पृष्ठ, 595
18. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 2, पृष्ठ, 596
19. जैन, धर्मचन्द, उपर्युक्त ।
20. तत्रैव, पृष्ठ, 27
21. तत्रैव ।
22. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 9, पृष्ठ 431-432
23. तत्रैव ।
24. राव, बी.एन., इण्डियाज् कान्स्टीट्यूशन इन मैकिंग, अध्याय 8, इन सिंह, पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ, 35
25. सिंह, पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ, 36
26. संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 4,पृष्ठ, 431
27. संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 4, पृष्ठ,431-432
28. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 9, पृष्ठ, 432
29. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ, 453
30. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 9, पृष्ठ, 455
31. तत्रैव ।

32. सविधान सभा वाद-विवाद, भाग 9, पृष्ठ 461-462
33. सिंह, पुरुषोत्तम, उपर्युक्त, पृष्ठ 44
34. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ 48
35. संविधान सभा वाद-विवाद, भाग 8, पृष्ठ 433
36. तत्रैव।
37. तत्रैव, पृष्ठ 541
38 चतुर्वेदी, डॉ दिनेशचन्द्र, भारतीय शासन एव राजनीति, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1981) पृष्ठ 187
39. जैन, धर्मचन्द, उपर्युक्त, पृष्ठ 30

अध्याय - 5

राज्य की मुख्य कार्यपालिका

भारत के संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल पद का सृजन करते समय संविधान सभा में पर्याप्त रूप से विचार-विमर्श कर के इसके संवैधानिक, संस्थागत और प्रक्रियागत स्वरूप का निर्धारण किया था। भारतीय संविधान में राज्यपाल की दोहरी भूमिका की परिकल्पना की गई है— प्रथम, राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में, और द्वितीय, केन्द्र के अभिकर्त्ता के रूप में। लेकिन संविधान सभा में राज्यपाल संस्था के बारे में डॉ. भीमराव अम्बेडकर, श्री के.एम. मुंशी, श्री टी.टी. कृष्णामाचारी, सर अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर, एच.वी. कामथ और प्रो. के.टी. शाह ने जिस तरह से अपने विचार व्यक्त किये हैं, उससे तो मोटे तौर पर यही निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष मात्र है, और उसकी वास्तविक शक्तियों का उपयोग मुख्यमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। इस तथ्य के निर्धारण में भारत में अपनाई जाने वाली संसदीय व्यवस्था की पृष्ठभूमि की अहम् भूमिका रही है। संविधान निर्माताओं द्वारा संघ के समान राज्यों में भी संसदीय व्यवस्था को मान्यता प्रदान की गयी है। संसदीय व्यवस्था का यह आधारभूत लक्षण होता है कि राज्य का अध्यक्ष नाममात्र का प्रधान होता है, और उसकी सारी शक्तियों का प्रयोग जनता द्वारा निर्वाचित मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। भारत में संघीय सरकार का संवैधानिक अध्यक्ष राष्ट्रपति है, लेकिन उसकी वास्तविक शक्तियों का उपयोग प्रधानमंत्री के नेतृत्व में मंत्रिपरिषद् द्वारा किया जाता है। राज्यों में राज्यपालों की भी लगभग यही स्थिति है। उनकी सारी शक्तियों का प्रयोग भी सम्बन्धित राज्यों की मंत्रिपरिषदों द्वारा किया जाता है। इसी समानता को इंगित करते हुए भारतीय संविधान के प्रसिद्ध टीकाकार दुर्गादास बसु ने कहा है कि "राज्यपाल की शक्तियाँ राष्ट्रपति के समान हैं, सिर्फ कूटनीतिक, सैनिक और आपातकालीन अधिकारों के सिवाय।"[1] निश्चित रूप से यह कहा जा सकता है कि संविधान में राज्यपाल की राज्य की मुख्यकार्यपालिका के रूप में भूमिका को मान्यता प्रदान की गयी है।

शीर्षस्थ भूमिका

भारतीय संविधान के छठे भाग में राज्यों से सम्बन्धित प्रावधानों की परिकल्पना की गई है। संविधान की यह व्यवस्था, जम्मू-कश्मीर, राज्य को छोड़कर सम्पूर्ण देश के राज्यों और केन्द्र-शासित प्रदेशों पर लागू होती है। संविधान के इस भाग में राज्यपाल की शक्तियों और भूमिका पर पर्याप्त प्रकाश डाला गया है। इसके अन्तर्गत राज्यपाल को राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष बनाया गया है। राज्य का प्रशासन मंत्रिपरिषद द्वारा संचालित होता है।[2] संविधान के अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य में एक राज्यपाल होगा। इस प्रावधान से तो यही अर्थ लगाया जा सकता है कि एक व्यक्ति को केवल एक ही राज्य का राज्यपाल नियुक्त किया जा सकता है। इस प्रावधान में निहित अस्पष्टता को समाप्त करने के लिए ही संविधान में संशोधन किया गया। सन् 1956 ई. में पारित सातवें संविधान संशोधन में यह व्यवस्था की गई है कि एक राज्य में नियुक्त व्यक्ति को ही दो या अधिक राज्यों के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। प्रस्तावित संविधान संशोधन से देश के उत्तरी-पूर्वी राज्यों के लिए केवल एक ही राज्यपाल की नियुक्ति करने का मार्ग प्रशस्त हो गया। वर्तमान में संविधान के अनुच्छेद 153 के अन्तर्गत असम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर और त्रिपुरा राज्यों के लिए एक ही राज्यपाल की व्यवस्था है यद्यपि इन राज्यों के लिए अलग-अलग रूप से भी राज्यपाल की नियुक्ति की जा सकती है। अपनी विशेष सांविधानिक स्थिति होने के बावजूद जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। उसे राज्य की मुख्य कार्यपालिका का दर्जा प्राप्त है। कार्यपालिका के प्रधान के रूप में राज्य प्रशासन में राज्यपाल की स्थिति शीर्षस्थ मानी जाती है।

राज्य की मुख्य कार्यपालिका के प्रधान के रूप में, राज्यपाल पर भारतीय संविधान की रक्षा करने का भी महान् उत्तरदायित्व आरोपित किया गया है। उससे यह अपेक्षा की गयी है कि वह न केवल स्वयं संविधान-सम्मत आचरण करे, अपितु यह भी देखे कि राज्य में संविधान के अनुरूप कार्य संचालन हो रहा है, अथवा नहीं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 159 के अन्तर्गत इस भावना को स्पष्ट किया गया है। इसके अन्तर्गत किसी भी राज्य के राज्यपाल को अपने पद की शपथ लेते समय संविधान की रक्षा करने का संकल्प व्यक्त करना पड़ता है। वह सम्बन्धित राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, या कार्यवाहक मुख्य न्यायाधीश अथवा वरिष्ठतम न्यायाधीश से शपथ ग्रहण करते हुए संकल्प लेता है कि,"मैं (राज्य का नाम) के राज्यपाल के रूप में, निष्ठापूर्वक राज्यपाल पद के दायित्व का संचालन (राज्यपाल के कार्यों का निर्वाह) करूँगा, तथा अपनी सम्पूर्ण योग्यता से संविधान और विधि का अनुरक्षण, संरक्षण एवं परिरक्षण करूँगा। मैं पूर्ण योग्यता से (राज्य का नाम) की जनता की सेवा और कल्याण में निरत रहूँगा।"[3] इस शपथ से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल का सर्वप्रथम और सर्वोपरि दायित्व संविधान की रक्षा करने का है अर्थात् वह राज्य में संविधान के प्रहरी का कार्य करता है।

देश के ख्याति प्राप्त संविधानवेत्ताओं, समीक्षकों, टीकाकारों तथा विभिन्न विवादों में राज्यों के उच्च न्यायालयों तथा सर्वोच्च न्यायालय ने जो निर्णय दिये हैं, उससे राज्यपाल के राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में उसके मुख्य कार्यपालिका के रूप में भूमिका स्पष्ट होती है। डॉ. एम.पी. पायली का कहना है कि "राज्य में सभी कार्यपालिका कृत्य राज्यपाल के नाम से संपन्न होते हैं। राज्यपाल को राज्य के प्रशासन का कार्य सुचारु-रूप से संपन्न करने के लिए आवश्यक नियम बनाने का प्राधिकार है...... संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल को दी गई सत्ता की यह सूची अत्यन्त विस्तृत है। यदि इसे इसी प्रकार स्वीकृत कर लिया जाए तो यह भयावह रूप धारण कर लेती है। किन्तु यथार्थ में राज्यपाल एक संवैधानिक राज्याध्यक्ष है।"[4] न्यायिक निर्णयों में भी राज्यपाल का संवैधानिक स्वरूप उभर कर सामने आया है। सुनील कुमार बोस बनाम मुख्य सचिव, बंगाल राज्य विवाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये निर्णय में कहा गया था कि,"वर्तमान संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल मंत्रिपरिषद् के बिना अपने कार्यों का निर्वहन नहीं कर सकेगा। भारत शासन अधिनियम, 1935 में दूसरी परिस्थिति थी। इस संविधान में राज्यपाल को स्व-विवेक के अनुसार या अपने व्यक्तिरूप से कार्य करने के अधिकार से वंचित कर दिया गया है।[5] रामजवाया कपूर बनाम पंजाब राज्य, विवाद में निर्णय देते हुए उच्चतम न्यायालय ने कहा था कि ब्रिटिश संसदीय व्यवस्था के आधार पर हमारी संघीय सरकार का निरूपण किया गया है, जिसका आधारभूत सिद्धान्त यह है कि "राष्ट्रपति और राज्यपाल सांविधानिक प्रधान हैं, और वास्तविक कार्यपालिका शक्ति मंत्रिपरिषद् में निहित होती है।" [6] ए. संजीवी बनाम मद्रास राज्य, विवाद में भी सर्वोच्च न्यायालय ने अपने निर्णय में कहा था कि राज्यपाल प्रधानतः राज्य का सांवैधानिक अध्यक्ष है और राज्य का प्रशासन मंत्रिपरिषद् द्वारा संचालित होता है।[7] शमशेरसिंह बनाम पंजाब राज्य, विवाद में भी सर्वोच्च न्यायालय ने इसी मत की पुष्टि करते हुए कहा था कि, "राष्ट्रपति तथा राज्यपाल अपनी सांविधानिक शक्तियों का प्रयोग सदैव मंत्रिपरिषद् की सहायता एवं मंत्रणा के आधार पर करते हैं। उक्त दोनों पद औपचारिक रूप से सांविधानिक प्रधान का स्तर प्राप्त किए हुए हैं।[8] इसमें सर्वोच्च न्यायालय ने यह भी अभिनिर्धारित किया है कि संविधान में राज्यपाल के "व्यक्तिगत समाधान" शब्दावली का जहाँ कहीं भी प्रयोग किया गया है, उसका तात्पर्य सदैव मंत्रिपरिषद् के समाधान से लिया जाना चाहिए। इस प्रकार उच्चतम न्यायालय ने अपने पूर्व निर्णय सरदारी लाल बनाम भारतीय संघ को अधिभावित कर दिया। [9] राज्यपाल पद पर अत्यधिक स्पष्टता से टिप्पणी करते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने हरगोविन्दपन्त बनाम रघुकुल तिलक वाले मामले में कहा था कि राज्यपाल का पद एक उच्च सांवैधानिक पद है, और वह भारत सरकार का कर्मचारी नहीं है। राज्यपाल भारत सरकार के न तो अधीन है और न ही उसके नियंत्रण में। वह भारत सरकार का कोई आदेश मानने के लिए बाध्य नहीं है। राज्यपाल अपने कृत्यों के लिए भारत सरकार के प्रति उत्तरदायी नहीं है। राज्यपाल का पद एक स्वतंत्र सांवैधानिक पद है जो भारत सरकार के अधीनस्थ नहीं है।[10] इस तरह से राज्यपाल को राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में मान्यता प्रदान की गई है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 से 167 तक के प्रावधान राज्यपाल को राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में प्रतिष्ठित करते हैं। संविधान का अनुच्छेद 154 राज्य-कार्यपालिका की शक्ति राज्यपाल में निहित करता है। राज्यपाल इस शक्ति का प्रयोग संविधान के अनुसार या तो स्वयं करते हैं, अथवा अधीनस्थ पदाधिकारियों के माध्यम से करते हैं।[11] अधीनस्थ पदाधिकारियों से सीधा तात्पर्य राज्य-मंत्रिपरिषद् एवं अधीनस्थ अधिकारियों से है। अनुच्छेद 154 (2) (ख) के अन्तर्गत संसद अथवा राज्य विधानमंडल द्वारा राज्यपाल के अधीनस्थ किसी भी अधिकारी को विधि द्वारा कोई भी कृत्य सौंपा जा सकता है।[12] संविधान के अनुच्छेद 163 में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि राज्यपाल को उसके कार्यों का निष्पादन करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् होगी। जैसा कि डॉ. एम.वी.पायली ने कहा है कि 'राज्यपाल के पद में उसके परामर्शदाता रूप पर ही अधिक जोर दिया गया है। एक ओर वह मंत्रिपरिषद् के निष्पक्ष परामर्शदाता के रूप में कार्य करता है और दूसरी ओर एक राज्य का अध्यक्ष होने के नाते उसे अधिकार है कि उससे परामर्श लिया जाए। उसे प्रोत्साहित करने और चेतावनी देने का भी अधिकार है।' [13] सामान्यतया राज्यपाल मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार ही कार्य करता है, लेकिन उसे मन्त्रिपरिषद् की कठपुतली मात्र नहीं माना जाना चाहिए। वह अनेक मामलों में अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का भी प्रयोग कर सकता है। फिर भी असली सत्ता तो मंत्रिपरिषद् में ही होती है। यह बात संविधान सभा में अनेक बार दोहरायी गई थी।

भारतीय संविधान में राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 166 (1) के अनुसार राज्य सरकार की समस्त कार्यपालिकीय कार्यवाही राज्यपाल के नाम से हुई कही जाती है। राज्य-सरकार के कार्य संचालन को अधिक सुविधापूर्वक किये जाने हेतु राज्यपाल नियम बना सकता है।[14] रामजवाया बनाम पंजाब राज्य वाद में कहा गया है कि राज्यपाल की कार्यपालिका की शक्ति वह शक्ति है, जो सरकार की विधायकीय एवं न्यायिक शक्तियों को निकाल देने के बाद शेष बच रहती है।[15] राज्यपाल की कार्यपालिका शक्तियों का विस्तार वहाँ तक है, जहाँ तक राज्य के विधानमडल का अधिकार-क्षेत्र है। इस तरह से राज्य-सूची एवं समवर्ती सूची में वर्णित सभी विषयों पर राज्यपाल की शक्ति का प्रभाव पड़ता है। लेकिन यहाँ इस बात को भी ध्यान में रखना चाहिए कि भारतीय संसद राज्यपाल की शक्तियों के बारे में संशोधन करने, उसे कम करने और वृद्धि करने का निर्णय ले सकती है।

राज्यपाल की शक्तियाँ

राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में, राज्यपाल को कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, वित्तीय और न्यायिक क्षेत्र में व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। वह राज्य की मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से इन शक्तियों का प्रयोग करता है। वह राज्य की कार्यपालिका का प्रधान है। संविधान के अनुच्छेद 164 (1) के अन्तर्गत वह राज्य के मुख्यमंत्री को नियुक्त करता है और उसकी सलाह पर अन्य मंत्रियों की नियुक्ति करता है। उसके द्वारा

ही मुख्यमंत्री की सलाह पर राज्य मंत्रिपरिषद् में परिवर्तन किया जा सकता है। मुख्यमंत्री की सलाह पर वह मंत्रियों को बर्खास्त भी कर सकता है। वह मुख्यमंत्री की सलाह के आधार पर ही मंत्रियों के त्यागपत्र स्वीकार करता है। वह मुख्यमंत्री के त्यागपत्र को भी स्वीकार करता है। वैकल्पिक व्यवस्था नहीं होने तक निवर्तमान मुख्यमंत्री को अपने पद पर बने रहने के लिए कह सकता है। इस तरह से मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति, पुनर्गठन और बर्खास्तगी के सम्बन्ध में उसको व्यापक अधिकार दिये गये हैं। इतना ही नहीं वह मुख्यमंत्री की इच्छानुरूप अन्य मंत्रियों में विभागों का वितरण कर सकता है, और उनके विभागों में परिवर्तन भी कर सकता है।

राज्यपाल को राज्य प्रशासन का सुचारुरूप से संचालन करने हेतु नियमों के निर्माण करने का भी अधिकार है। अनुच्छेद 166 (1) के अनुसार राज्य में राज्यपाल के नाम से बनाये जाने वाले और लागू किये जाने वाले आदेशों और लिखत को प्रामाणिक माना जाता है। राज्य में सभी महत्त्वपूर्ण सूचनायें और विज्ञप्तियाँ उसी के नाम से जारी की जाती हैं। अनुच्छेद 167 (1) एवं 167 (2) के अन्तर्गत उसे राज्य के मुख्यमंत्री से राज्य प्रशासन और कानून सम्बन्धी स्थिति के बारे में जानकारी प्राप्त करने का भी अधिकार है। राज्यपाल द्वारा राज्य-मंत्रिमंडल द्वारा लिये गये निर्णयों के बारे में भी सूचना और जानकारी प्राप्त की जा सकती है। इस अधिकार का प्रयोग करके राज्यपाल न केवल राज्य प्रशासन के बारे में ही पूरी तरह से सूचित रहता है, अपितु राज्य मंत्रिपरिषद् पर भी अप्रत्यक्ष रूप से नियंत्रण रखता है। राज्य का भ्रमण करके भी राज्यपाल राज्य-प्रशासन का निकट से मूल्यांकन कर सकता है। वह प्रत्यक्ष और अप्रत्यक्ष रूप से अपनी मंत्रिपरिषद् को सलाह और चेतावनी भी दे सकता है।

राज्य में की जाने वाली सभी महत्त्वपूर्ण नियुक्तियाँ राज्यपाल के द्वारा ही की जाती हैं। केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़कर राज्य के सभी विश्वविद्यालयों के कुलपतियों की नियुक्ति राज्यपाल द्वारा की जाती है। वह राज्य के विश्वविद्यालयों का कुलाधिपति भी है। संविधान के अनुच्छेद 165 के अनुसार वह राज्य के महाधिवक्ता की नियुक्ति करता है। संविधान के अनुच्छेद 171 (5) अन्तर्गत उसे साहित्य, विज्ञान, कला एवं समाजसेवा में विशिष्ट योग्यता रखने वाले लोगों को राज्य विधानपरिषद् में नामजद करने का भी अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 217 में राज्यपाल को राज्य में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्श देने का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 316 के अनुसार वह राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष एवं अन्य सदस्यों को नियुक्त करता है। इस तरह से उसे व्यापक कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। विधायी क्षेत्र में भी राज्यपाल को महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। राज्य विधानमंडल का सदस्य नहीं होने के बावजूद भी उसे उसका अभिन्न अंग माना जाता है। उसे राज्य विधानमंडल का गठन करने, उसकी कार्य-पद्धति का निर्माण करने, विधानमण्डल के सत्र बुलाने और सत्रावसान करने, राज्य विधानमण्डल में अपना अभिभाषण पढ़ने, राज्य विधानमण्डल में ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय के प्रतिनिधियों

को नामजद करने, विधानसभा और विधानपरिषद् के पीठासीन अधिकारियों को मनोनीत करने, विधानसभा और विधानपरिषद् का संयुक्त अधिवेशन बुलाने, दोनों सदनों में अपना संदेश भेजने, और विधानसभा को विघटित करने जैसी शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। उसकी स्वीकृति के बिना कोई विधेयक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता है। राज्य विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों को वह राष्ट्रपति के पास विचारार्थ हेतु सुरक्षित भी रख सकता है। राज्य विधानमंडल द्वारा पारित सभी विधेयक राज्यपाल के हस्ताक्षर होने के बाद ही कानून का रूप धारण करते हैं। राज्यपाल अध्यादेश भी जारी कर सकता है। राज्यपाल द्वारा ही लोकसेवा आयोग एवं महालेखाकार और लेखा-जोखा नियंत्रक का वार्षिक प्रतिवेदन भी विधानमंडल में प्रस्तुत कराया जाता है। राज्यपाल की ये विधायी शक्तियाँ भी उसे राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में प्रतिष्ठित करती हैं। वित्तीय क्षेत्र में भी राज्यपाल को पर्याप्त अधिकार सौंपे गये हैं। यथार्थ में, इन अधिकारों के कारण राज्य के वित्तीय मामलों में उसे महत्त्वपूर्ण शक्ति प्राप्त हो गई है। बजट-निर्माण प्रक्रिया में भी राज्यपाल की भूमिका रहती है। संविधान के अनुच्छेद 202 के अन्तर्गत राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य विधानमंडल के सदन या सदनों के सम्मुख राज्य की आय-व्यय का विस्तृत ब्यौरा "वार्षिक वित्तीय विवरण" (Annual Financial Statement)प्रस्तुत करे। इससे खर्च की जाने वाली राशि का अनुमान अलग से प्रदर्शित किया जाता है"[16] अनुच्छेद 203 के अनुसार राज्यपाल के प्रमाणित करने के बाद ही वित्तीय विधेयक और विनयोग विधेयक (Appropriation Bill) राज्य विधानसभा में पेश किये जा सकते हैं।[17] अनुच्छेद 203 (3) के अनुसार उसकी पूर्वानुमति के बिना कोई भी धन-विधेयक विधानसभा में प्रस्तुत नहीं किया जा सकता है। लेकिन यहाँ पर यह ध्यान रखा जाना चाहिए कि राज्य विधानसभा द्वारा पारित धन-विधेयकों पर उसे अनिवार्य रूप से स्वीकृति देनी ही पड़ती है। वह उन्हें पुनर्विचार करने हेतु विधानसभा में वापस नहीं भेज सकता है। अनुच्छेद 205 के अन्तर्गत उसे महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की गई है। इसके तहत राज्यपाल को राज्य विधानसभा में अनुपूरक (Supplementary), अतिरिक्त (Additional) और आधिक्य राशि (Excess Grants) की माँग करने की शक्ति प्राप्त है।[18] उसकी पूर्व स्वीकृति के बिना अनुदान की वृद्धि का कोई भी प्रस्ताव राज्य विधानसभा में प्रस्तावित नहीं किया जा सकता है। किसी भी अनुदान या कर सम्बन्धी माँग को राज्यपाल के नाम से किसी मंत्री द्वारा ही पेश किया जा सकता है। विधानसभा के किसी सदस्य को ऐसा करने की स्वतंत्रता नहीं है। राज्यपाल का राज्य के आकस्मिक कोष या संचित निधि कोष (Contingent Fund) पर भी नियंत्रण होता है। आवश्यकता पड़ने पर वह आवश्यक व्यय करने के लिए धनराशि खर्च कर सकता है। इस तरह से राज्य के वित्त पर भी उसका प्रभावी नियंत्रण है। राज्यपाल की इस शक्ति की अनदेखी नहीं की जा सकती है।

राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल को न्यायिक शक्तियों से भी युक्त किया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 161 के अन्तर्गत उसकी इन शक्तियों

का उल्लेख किया गया है। इस अनुच्छेद में राज्यपाल को यह अधिकार है कि वह राज्य की कार्यपालिकीय शक्ति की विस्तार-परिधि में आने वाले किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम या परिहार कर दे, या दण्डादेश का निलम्बन, परिहार अथवा लघुकरण कर दे।[19] कमाण्डर के.एस. नानावती बनाम बम्बई राज्य विवाद[20] में भारत के उच्चतम न्यायालय ने राज्यपाल की क्षमादान करने सम्बन्धी न्यायिक शक्ति को स्पष्ट करते हुए कहा कि राज्यपाल की क्षमादान करने की शक्ति को तभी तक वैध माना जायेगा, जब तक कि यह मामला उच्चतम न्यायालय में अभिगृहीत (Sub-Judice) की स्थिति में नहीं आता। राज्यपाल की क्षमादान करने की शक्ति का सम्बन्ध उन मामलों तक ही सीमित है, जिन मामलों पर राज्य विधानसभा को कानून बनाने का अधिकार है और राज्यपाल की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है। राज्यपाल को जिला-स्तरीय न्यायाधीशों और अन्य न्यायिक अधिकारियों को भी नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त है।

संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल को स्व-विवेकीय शक्तियाँ भी प्रदान की गई हैं, जिनका अर्थ यही है कि राज्यपाल इन शक्तियों का प्रयोग अपने विवेक से कर सकता है। इन स्व-विवेकीय अधिकारों ने राज्यपाल की स्थिति को अत्यन्त सुदृढ़ कर दिया है।

संविधान में राज्यपाल को राज्य के सभी विश्वविद्यालयों (केन्द्रीय विश्वविद्यालयों को छोड़कर) के कुलाधिपति का दर्जा प्रदान किया गया है। कुलाधिपति के रूप में उसे कुलपतियों को नियुक्त करने, बर्खास्त करने और उनका त्यागपत्र स्वीकार करने, कुलपतियों और अन्य अधिकारियों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने, विश्वविद्यालय के सिण्डीकेट के सदस्यों को मनोनीत करने, दीक्षान्त समारोह की अध्यक्षता करने तथा विश्वविद्यालय से सम्बन्धित किसी भी मामले की जाँच करवाने का अधिकार है।

संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल को आपातकालीन अधिकार भी हस्तगत किये गये हैं। संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत राज्य में संवैधानिक-तंत्र के विफल होने की स्थिति में राष्ट्रपति शासन लागू किया जा सकता है। राष्ट्रपति-शासन के समय राज्यपाल की स्थिति सर्वोच्च बन जाती है, और वह राज्य का वास्तविक प्रशासक बन जाता है। सम्पूर्ण प्रशासनिक उत्तरदायित्वों का निर्वाह उसके द्वारा किया जाता है। वह ऐसी स्थिति में राज्य-प्रशासन का निर्देशन, नेतृत्व और नियंत्रण करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि राज्य में उसकी स्थिति सर्वोपरि है। राज्यपाल राज्य का सांविधानिक अध्यक्ष होने के कारण वहाँ का सर्वोच्च पदाधिकारी है। उसका पद अत्यन्त गरिमा और प्रतिष्ठा का पद होता है।[21] डॉ. जे.सी. जोहरी ने राज्यपाल की सांवैधानिक स्थिति का विश्लेषण करते हुए कहा है कि वह राष्ट्रपति की तरह लगभग नाममात्र का अध्यक्ष है। इसको इस रूप में देखा जाना चाहिए कि दोनों अपनी-अपनी सरकारों के संवैधानिक अध्यक्षों के समान हैं। इसलिए यह कहा जाता है कि जो स्थिति राष्ट्रपति को केन्द्र में संसदीय सरकार के नामधारी अध्यक्ष होने की वजह से प्राप्त है, वही स्थिति राज्य में उसी प्रकार की शासन व्यवस्था होने के

कारण नामधारी अध्यक्ष के रूप में राज्यपाल को प्राप्त है।[22] एम.पी. शर्मा की भी मान्यता है कि "राज्यपाल अपने राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष ठीक उसी तरह है, जैसे संघ में राष्ट्रपति है। हम कह सकते हैं कि वह संकटकालीन और अन्तर्कालीन शक्तियों से वंचित अपने राज्य का राष्ट्रपति है।"[23] डॉ. एम.वी. पायली लिखते हैं कि संविधान के उपबन्धों का विवेकपूर्ण अध्ययन करने से यह बात पूर्णतः स्पष्ट हो जाती है कि वह न तो कठपुतली है, और न ही संचार-कार्यालय, किन्तु एक ऐसा कार्याधिकारी है जो राज्य के प्रशासनिक कार्यों में महत्त्वपूर्ण भाग लेता है।[24] इस तरह से राज्यपाल को राज्य की मुख्य कार्यकारी सत्ता के रूप में स्वीकार किया गया है। लेकिन वास्तविकता तो यह है कि कुछ अपवादों को छोड़कर, राज्यपाल को मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह के अनुरूप ही कार्य करना पड़ता है। संसदीय शासन में जन-प्रतिनिधित्व करने के कारण वास्तविक सत्ता मंत्रिपरिषद् में केन्द्रित होती है। राज्यपाल तो मात्र प्रतीक के रूप में ही राज्य की मुख्य कार्यपालिका के रूप में कार्य करता है।

स्वतंत्रता प्राप्ति से लेकर वर्तमान तक के अनुभवों के आधार पर यही स्पष्ट होता है कि कतिपय राज्यपालों को अपवाद के रूप में छोड़ दें तो प्रायः अधिकांश राज्यपालों ने सच्चे अर्थों में संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में कार्य करके संघर्ष की स्थिति से बचने का प्रयत्न किया है। स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद देश की राजनीतिक व्यवस्था को स्थिरता प्रदान करने की दृष्टि से यह भावना अत्यावश्यक थी। अगर प्रारम्भिक वर्षों में ही राज्यों में राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों में संघर्ष और तनाव की राजनीति की मनःस्थिति बन जाती तो भारत में सघीय व्यवस्था का भविष्य संकट में पड़ जाता। अतः देश में संघीय व्यवस्था की स्थिरता और सुदृढता में राज्यपालों की महत्त्वपूर्ण भूमिका रही है। जैसा कि डॉ. पायली ने भी लिखा है कि वह सुविधाजनक तथा प्राधिकारपूर्ण स्थान से राज्य में होने वाले प्रत्येक कार्य को अनासक्त पर्यवेक्षक के रूप में देखता है। इस स्थिति से वह राज्य सरकार के गौरव, स्थायित्व तथा सामूहिक दायित्व को बनाये रखता है।[25] निस्संदेह, राज्यपाल अपनी सकारात्मक भूमिका से न केवल राज्य में संविधान और विधि की रक्षा करने में योगदान दे सकते हैं, अपितु लोक-कल्याणकारी प्रवृत्तियों को भी क्रियान्वित कराने में सफल हो सकते हैं।

संदर्भ

1. बसु, दुर्गादास, कमेन्टरी आन दी कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, वोल्यूम द्वितीय।
2. सिंह, डी.के., वी एन. शुक्लाज कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया (सेवन्थ एडीशन, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, 1982) पृष्ठ 355
3. बसु, दुर्गादास, शार्टर कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, नाइन्थ एडीशन, (प्रेन्टिस् हाल ऑफ इण्डिया, प्रायवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1984), पृष्ठ 353
4. पायली, डॉ. एम.वी., भारतीय सविधान, (यूनाइटेड बुक हाउस, दिल्ली, 1977) पृष्ठ 233
5. ए. आई आर. 1950, कलकत्ता, 274

6. ए. आई. आर. 1955, सु. को., 549
7. ए. आई. आर. 1970, सु. को., 1102
8. ए. आई. आर. 1974, सु. को., 2192
9. शर्मा, गंगासहाय, भारत का संविधान, (इलाहबाद एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983) पृष्ठ, 275
10. ए. आई. आर. 1979, सु. को. 1109, एव जैन, एम.पी., भारतीय सांवैधानिक विधि (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1985), पृष्ठ, 139
11. चतुर्वेदी, मुरलीधर, भारत का संविधान (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983), पृष्ठ 325
12. जैन, एम.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ325
13. पायली, डॉ. एम.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ235
14. जैन,एम. पी., उपर्युक्त, पृष्ठ 139
15. रामजवाया बनाम पंजाब राज्य, ए. आई. आर. 1955, एस. सी., 549 इन चतुर्वेदी, मुरलीधर, उपर्युक्त, पृष्ठ, 325
16. सिंह, डी. के., उपर्युक्त, पृष्ठ, 365
17. तत्रैव, पृष्ठ, 387
18. तत्रैव ।
19. जैन, एम.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 144
20. ए. आई. आर. 1961, सु.को., 112
21. सिंह, भवानी एवं जयप्रकाश, भारतीय राजनीतिक व्यवस्था : नूतन क्षितिज (राजनीतिशास्त्र विभाग, राजस्थान विश्वविद्यालय, जयपुर, 1982),पृ.181
22. जोहरी, डॉ. जे.सी., भारतीय शासन और राजनीति (विशाल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1975), पृष्ठ, 211
23. तत्रैव ।
24. पायली, डॉ. एम.वी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 234
25. तत्रैव, पृष्ठ, 235

अध्याय - 6

राज्य-विधानमंडल का अभिन्न अंग

राज्यपाल न केवल राज्य की मुख्य कार्यपालिका की भूमिका का निर्वाह करता है, अपितु उसकी व्यवस्थापिका सम्बन्धी भूमिका भी बड़ी महत्त्वपूर्ण है। भारतीय संविधान में उसकी व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियों का विशद् रूप से विश्लेषण किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 168 के अन्तर्गत उसे राज्य-विधानमंडल का सदस्य नहीं होने के बावजूद भी राज्य-विधानमंडल का अभिन्न अंग माना जाता है।[1] इस शक्ति के कारण ही राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल के गठन, कार्यों और विधेयकों को स्वीकृति देने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये हैं। राज्यपाल के इन व्यवस्थापन सम्बन्धी अधिकारों को दो वर्गों में विभाजित किया जा सकता है : प्रथम, राज्य-विधानमंडल के गठन और कार्य-सम्बन्धी, द्वितीय, राज्य कानूनों के निर्माण सम्बन्धी।[2] इन वृहद् शक्तियों के कारण ही राज्य की व्यवस्थापन-प्रक्रिया के प्रत्येक पहलू पर उसका प्रभाव स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है।

राज्य-विधानमंडल का गठन

राज्यपाल को राज्य विधानसभा और विधान परिषद् दोनों में ही कुछ सदस्यों को नामजद करने का अधिकार प्रदान किया गया है। संविधान के अनुच्छेद 333 के अन्तर्गत उसे ऐसा करने का अधिकार प्रदान किया गया है।[3] इसके अन्तर्गत राज्यपाल को राज्य विधानसभा में ऐंग्लो-इण्डियन समुदाय का समुचित-प्रतिनिधित्व नहीं होने पर उस समुदाय के केवल एक व्यक्ति को मनोनीत करने का अधिकार दिया गया है।[4] इस सम्बन्ध में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या ऐसा करते हुए राज्यपाल राज्य के मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए बाध्य है ? इस सम्बन्ध में बिमनचन्द्र बोस बनाम एच.सी. मुखर्जी विवाद में कलकत्ता उच्च न्यायालय के निर्णय में कहा गया था कि संविधान के अनुच्छेद 163 में यह पूर्णरूपेण स्पष्ट कर दिया गया है कि केवल स्व-विवेक से सम्बन्धित मामलों को छोड़कर, उसे मंत्रिपरिषद् की सलाह से कार्य करना चाहिए। इससे यह मान लेना चाहिए कि सदस्यों का नामांकन करते समय उसे अपनी मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करना चाहिए।[5]

विधानसभा के अलावा, राज्यपाल को विधानपरिषद् के गठन करने के मामले में भी महत्त्वपूर्ण अधिकार प्रदान किये गये हैं। वर्तमान में आन्ध्रप्रदेश, बिहार, महाराष्ट्र, तमिलनाडु, कर्नाटक, और उत्तरप्रदेश, में द्विसदनीय विधानमंडल है।[6] इन विधानपरिषदों के गठन करने में राज्यपालों को महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। संविधान के अनुच्छेद 171 (5) के अनुसार राज्य का राज्यपाल विधानपरिषद् के अन्य बचे हुए 1/6 सदस्यों का नामांकन उन व्यक्तियों में कर सकता है, जो साहित्य, विज्ञान, कला, सहकारिता-आन्दोलन एवं समाज सेवा में विशिष्ट ज्ञान अथवा व्यावहारिक अनुभव रखते हों।[7] राज्यपाल द्वारा मनोनयन करने का प्रयोजन यह है कि ऐसे व्यक्तियों की प्रतिभा का उपयोग किया जा सके जिन्होंने विभिन्न क्षेत्रों में कुछ विशिष्टता प्राप्त की हो, और जिनकी सलाह व अनुभव विधानमंडल के लिए मूल्यवान सिद्ध हो सकते हैं। [8] राज्यपाल द्वारा ऐसे सदस्यों के मनोनयन करने का मुख्य कारण यह है कि ऐसे सदस्यों को भी विधानमंडलों में स्थान प्राप्त हों, जो चुनाव लड़ने में अरुचि रखते हों। अनेक अवसरों पर राज्यपाल के इस अधिकार को उच्च न्यायालयों में चुनौती भी दी गई। इस पर न्यायिक-निर्णयों में यही दोहराया गया कि ऐसा करना राज्यपाल का अधिकार है। संविधान के अनुच्छेद 192 में यह और भी स्पष्टता के साथ लेखबद्ध कर दिया गया है कि भारतीय निर्वाचन आयोग की सलाह से किये गये इस तरह के मनोनयन को चुनौती नहीं दी जा सकती है। इस अधिकार के अतिरिक्त विधानमंडल के किसी सदस्य की अनर्हता-विषयक पर निर्णय करने का अधिकार भी राज्यपाल को प्रदान किया गया है। अनुच्छेद 192 (2) के अन्तर्गत राज्यपाल को भारत के निर्वाचन आयोग से परामर्श करके उसे यह अंतिम निर्णय देने का अधिकार है कि राज्य-विधानमंडल का कोई सदस्य अनर्ह हो गया है, अथवा नहीं। राज्यपाल के इस अधिकार को भी किसी न्यायपालिका में चुनौती नहीं दी जा सकती है।

राज्यपालों को राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों — विधानसभा और विधानपरिषद्, के सदस्यों को उनके सदस्य के रूप में पद ग्रहण करने के पूर्व शपथ दिलाने का अधिकार सौंपा गया है। संविधान के अनुच्छेद 188 के अनुसार ऐसे सदस्यों को राज्यपाल अथवा उसके द्वारा नियुक्त व्यक्ति के सम्मुख शपथ ग्रहण करनी पड़ती है अथवा प्रति-ज्ञान करने की औपचारिकता का निर्वाह करना पड़ता है। इसके अलावा राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के अध्यक्ष और उपाध्यक्ष का स्थान रिक्त होने पर सम्बन्धित सदन के किसी भी सदस्य को अध्यक्ष का दायित्व निर्वाह करने के लिए नियुक्त करने की शक्ति प्राप्त है। राज्य में संवैधानिक संकट को समाप्त करने की दिशा में उसका यह अधिकार बड़ी ही महत्त्वपूर्ण भूमिका का निर्वाह कर सकता है। भारतीय संविधान में राज्यपाल को राज्य-विधानमंडलीय सचिवालय का प्रशासन सुचारु-रूप से संचालित करने हेतु भी शक्ति प्रदान की गई है। वह दोनों सदनों के अध्यक्षों के परामर्श पर दोनों ही सदनों के अधिकारियों और कर्मचारियों के लिए नियम और उपनियम बना सकता है। सामान्यतः, राज्यपाल इन अधिकारों का प्रयोग राज्य मंत्रिपरिषद् की सलाह से ही करता है। बहुत कम मामलों में राज्यपालों ने अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग किया है।

विधानमंडल का सत्र बुलाना, सत्रावसान करना एवं विघटन करना

राज्यपाल की व्यवस्थापन शक्तियों में सबसे महत्त्वपूर्ण अधिकार राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के सत्र को आहूत करना है। संविधान के अनुच्छेद 174 के अनुसार वह अपने विवेक से निश्चित् समय और स्थान पर राज्य-विधानमंडल के एक सदन (विधानसभा) और दोनों सदनों (विधानसभा एवं विधानपरिषद्) का अधिवेशन बुला सकेगा।[9] संविधान के अनुच्छेद 174 (2) के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है कि गत सत्र के अंतिम दिन तथा आगामी सत्र की प्रथम बैठक के लिए नियत तिथि के बीच 6 माह से अधिक का अन्तर नहीं होगा।[10] संवैधानिक व्यवस्थाओं से तो यही स्पष्ट होता है कि राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों के अलग-अलग रूप से वर्ष में दो बार अधिवेशन होने चाहिए, और इनमें 6 माह से अधिक का अन्तराल नहीं होना चाहिए। सामान्य स्थिति में राज्यपाल मुख्यमंत्री के परामर्श पर ही राज्य-विधानमंडल के सत्र को आहूत करता है। परन्तु अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो गया है कि असामान्य स्थिति में, राज्यपाल अपने विवेकाधीन अधिकारों का प्रयोग करके भी मुख्यमंत्री की अनिच्छा के बावजूद विधानमंडल के सत्रों को निर्धारित अवधि के पूर्व भी आहूत कर सकता है। अनेक न्यायिक-निर्णयों में भी राज्यपाल के इस अधिकार की पुष्टि की गई है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174 (2अ) में राज्यपाल में राज्य-विधानमंडल के सत्रावसान करने का अधिकार निहित किया गया है। वह इस अधिकार का प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सलाह से करता है।[11] लेकिन इस संवैधानिक प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या राज्यपाल प्रत्येक स्थिति में ऐसा करते हुए राज्य मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य है ? अनेक उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल को इस दिशा में स्व-विवेकीय अधिकार प्राप्त हैं। यदि किसी मुख्यमंत्री का विधानसभा में बहुमत संदिग्ध हो जाये, या समाप्त हो जाए, तो ऐसी स्थिति में वह मुख्यमंत्री की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं है।

राज्यपाल को विधानसभा भंग करने की महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की गई है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 174 (2) (ख) के अन्तर्गत उसे यह शक्ति प्राप्त है। इस अधिकार का प्रयोग करते समय भी राज्यपाल अपने विवेक का प्रयोग कर सकता है। वह ऐसे मुख्यमंत्री की सलाह पर विधानसभा को विघटित करने के लिए बाध्य नहीं है, जिसने विधानसभा में अपना बहुमत खो दिया हो, अथवा अपनी मंत्रिपरिषद् के विरुद्ध रखे गये अविश्वास-प्रस्ताव से बचने के लिए विधानसभा का विघटन चाहता हो। अनेक अवसरों पर राज्यपालों ने ऐसे मुख्यमंत्रियों की विधानसभा विघटित करने के परामर्श को अस्वीकार कर के वैकल्पिक सरकार का गठन करने के निर्णय लिये। इस बारे में दूसरा महत्त्वपूर्ण सांविधानिक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि क्या भारतीय संघ का राष्ट्रपति किसी राज्य में संविधान के अनुच्छेद 356 (1) के अन्तर्गत अपनी भूमिका का निर्वाह करते हुए अनुच्छेद 174 (2) (ख) की शक्तियों का प्रयोग करने में सक्षम है ? राजस्थान राज्य बनाम भारत संघ के विवाद में यह प्रश्न उठाया गया था। इस विवाद में निर्णय देते हुए

सर्वोच्च न्यायालय ने यह स्पष्ट कर दिया कि राष्ट्रपति इस अधिकार का प्रयोग करने में सक्षम है।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 175 (1) में राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल के एक सदन (विधानसभा) या दोनों सदनों (विधान परिषद् होने की स्थिति में) को अलग-अलग रूप से या संयुक्त रूप से सम्बोधित करने और सदस्यों की उपस्थिति प्राप्त करने का अधिकार है।[12] अनुच्छेद 175 (2) के अन्तर्गत राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल के दोनों सदनों — विधानसभा अथवा विधानपरिषद् को संदेश भेजने का अधिकार प्राप्त है। अनुच्छेद 176 में राज्यपाल को यह शक्ति प्रदान की गई है कि वह सामान्य चुनाव के बाद गठित होने वाली विधानसभा की प्रथम बैठक को सम्बोधित करें। अगर राज्य में विधानपरिषद् का अस्तित्व है तो राज्यपाल विधानसभा तथा विधानपरिषद् के संयुक्त-अधिवेशन को सम्बोधित कर सकता है, और राज्य-विधानमंडल के अधिवेशन बुलाये जाने के कारण को स्पष्ट कर सकता है। संविधान के अनुच्छेद 176 (2) के अन्तर्गत उसे विधानमंडल के सदन अथवा सदनों (द्विसदनीय विधानमंडल होने की स्थिति) में सदन की कार्यवाही का संचालन करने हेतु नियमों का निर्माण करने और समय का निर्धारण करने की शक्ति प्राप्त है।[13] इस तरह से राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल के संगठन, और कार्यप्रणाली के संचालन के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं।

विधान-निर्माण

भारतीय संविधान में राज्यपाल को विधान-निर्माण के सम्बन्ध में भी व्यापक अधिकार प्रदान किये गये हैं। भारतीय संसद की तरह ही राज्य-विधानमंडल को भी वैसी ही विधि-निर्माण प्रक्रिया प्रदान की गई है। संविधान के अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्यपाल को यह अधिकार प्राप्त है कि वह राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित सभी प्रकार के विधेयकों को अपनी स्वीकृति प्रदान करके उन्हें कानूनी स्वरूप प्रदान करें। राज्यपाल की अनुमति के बिना कोई भी विधेयक कानून का रूप धारण नहीं कर सकता है। राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित गैर-वित्त विधेयकों के सम्बन्ध में राज्यपाल निम्नलिखित निर्णय ले सकता है:

1. वह विधेयक को अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे,
2. अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दे,
3. विधेयक को राष्ट्रपति के विचारार्थ रोक ले,
4. राज्य-विधानमंडल के पुनर्विचार करने हेतु विधेयक को वापस लौटा दे।

इस पर राज्य विधानमंडल पर ही यह निर्भर करता है कि वह राज्यपाल द्वारा सुझाये गये संशोधनों के अनुरूप विधेयक को पुनः पास करे, अथवा उन संशोधनों को अस्वीकार कर दे, या मूल रूप में ही विधेयक को पारित कर दे। विधानमंडल द्वारा दोबारा पारित इस विधेयक पर राज्यपाल को अनिवार्य रूप से अपनी स्वीकृति प्रदान करनी ही

होगी। इस तरह से राज्यपाल गैर-वित्त विधेयक को रद्द नहीं कर सकता है, अपितु उसे पुनर्विचार करने के लिए लौटा ही सकता है।

राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित विधेयक के सम्बन्ध में राष्ट्रपति के पास निम्नलिखित विकल्प रहते हैं—

1. वह विधेयक पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे;
2. अपनी स्वीकृति देने से इन्कार कर दे;
3. कतिपय संशोधनों के साथ राज्य-विधानमंडल के पास पुनः विचार करने हेतु लौटा दे।

राष्ट्रपति द्वारा राज्य-विधानमंडल को कतिपय संशोधनों के साथ पुनः लौटाये जाने वाले विधेयक पर यह आवश्यक है कि राज्य-विधानमंडल छह महीने की अवधि में उस पर विचार कर ले। संविधान के अनुच्छेद 201 में यह व्यवस्था की गई है कि यदि राज्य-विधानमंडल उस विधेयक को राष्ट्रपति द्वारा सुझाये गये संशोधनों के अनुरूप या मूल रूप में ही पारित कर, राष्ट्रपति के पास अनुमति देने हेतु प्रस्तावित भी करे तो यह राष्ट्रपति पर निर्भर करेगा कि वह उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान करे, अथवा इन्कार कर दे।

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 200 में ही धन-विधेयकों के बारे में भी स्पष्ट प्रावधान निश्चित किये गये हैं। राज्यपाल किसी धन-विधेयक को विधानसभा में पुनर्विचार करने हेतु वापस नहीं भेज सकता है। राज्यपाल के सामने तीन ही मार्ग शेष रह जाते हैं—

1. वह उस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे;
2. स्वीकृति देने से इन्कार कर दे;
3. उसे राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित कर ले।

राष्ट्रपति भी उस विधेयक को संशोधन सहित राज्य-विधानमंडल में पुनः विचार करने हेतु लौटा नहीं सकता है। वह या तो इस पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे, या स्वीकृति देने से इन्कार कर दे। इस तरह से राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित सभी प्रकार के विधेयकों को स्वीकृति प्रदान करने के सम्बन्ध में महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं।

अध्यादेश सम्बन्धी शक्ति

राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने का अधिकार भी दिया गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 213 (1) के अन्तर्गत उसे निम्नलिखित परिस्थितियों में अध्यादेश जारी करने की शक्ति प्राप्त हैं —

1. जिन दिनों, राज्य-विधानमंडल का कोई सत्र नहीं चल रहा हो; और

2. राज्यपाल को यह विश्वास हो जाये कि ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई है कि उसका समाधान करने के लिए अध्यादेश जारी करने के अतिरिक्त कोई विकल्प शेष नहीं रहा है।

इस संदर्भ में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति को न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकती है ? इस सम्बन्ध में दिये गये अनेक न्यायिक-निर्णयों में इस बात को भलीभाँति स्पष्ट कर दिया गया है कि अध्यादेश जारी करने के सम्बन्ध में राज्यपाल की शक्ति अंतिम और निर्णायक है और उसे इस आधार पर चुनौती का विषय नहीं बनाया जा सकता है कि ऐसा करने का उचित आधार नहीं था। उपेन्द्रलाल बनाम नारायनी देवी विवाद [14] में यही बात कही गई थी। उच्चतम न्यायालय ने एस. के.जी. सूगर लिमिटेड बनाम बिहार राज्य विवाद में निर्णय देते हुए यह स्पष्ट व्यवस्था दी थी कि राज्यपाल को अध्यादेश जारी करने की परिस्थितियों को निर्धारित करने की शक्ति प्राप्त है। उसकी इस शक्ति को इस आधार पर चुनौती नहीं दी जा सकती कि उसने ऐसा करते समय भूल की है।[15] लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं लगाया जाना चाहिए कि राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति असीमित और अनियंत्रित है। सन् 1978 ई. में पारित 44वें संविधान संशोधन में यह स्पष्ट कर दिया गया है कि अगर कोई अध्यादेश दुर्भावना के आधार पर जारी किया गया हो तो उसकी वैधानिकता को न्यायपालिका में चुनौती दी जा सकेगी।[16] भूपेन्द्र बनाम उड़ीसा राज्य विवाद में उड़ीसा उच्च न्यायालय ने यह निर्णय दिया था कि अगर राज्यपाल द्वारा जारी किया गया अध्यादेश संविधान के अनुच्छेद 14 और 254 का अतिक्रमण करता है तो उसे अवैध माना जायेगा।[17] इस प्रकार से राज्यपाल द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेश की भावना ठीक होनी चाहिए।

राज्यपाल द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेश के सम्बन्ध में कुछ संवैधानिक परम्परायें भी जुड़ी हुई हैं। राज्यपाल ऐसा करते समय मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से कार्य करेगा। यह राज्यपाल का स्व-विवेकीय अधिकार नहीं है। सामान्य स्थिति में, उसे मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह के अनुरूप ही आचरण करना होगा। राष्ट्रपति शासन के समय राज्यपाल स्वयं भी अध्यादेश जारी कर सकता है, लेकिन ऐसा करने के पूर्व वह राष्ट्रपति से अनुमति प्राप्त करता है। उच्चतम न्यायालय ने एफ. कपूर बनाम यूनियन ऑफ इण्डिया विवाद में यह स्पष्ट कर दिया कि अध्यादेश जारी करने की शक्ति राज्यपाल का स्व-विवेकीय अधिकार नहीं है, बल्कि इसका प्रयोग मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से किया जाना चाहिए।[18] राज्यपाल द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेश के सम्बन्ध में यह भी प्रावधान है कि वह ऐसा करते समय राष्ट्रपति से पूर्वानुमति और निर्देश प्राप्त करे। निम्नलिखित परिस्थितियों में वह ऐसा करने के लिए बाध्य है —

1. जिस विषय को राज्य-विधानमंडल में प्रस्तावित करने के पूर्व राष्ट्रपति की अनुमति लेनी पड़ती है उस विषय पर कोई अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति से निर्देश प्राप्त करना आवश्यक है।

2. जिन विषयों पर राष्ट्रपति से विचार कर लेना अपरिहार्य हो, उन विषयों पर अध्यादेश जारी करने के पूर्व भी राष्ट्रपति से सलाह लेना आवश्यक बन जाता है।

3. भारतीय संविधान के प्रावधानों के अन्तर्गत राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित वह अधिनियम, जिसके राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना अवैध होने का खतरा हो, और जिसे राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति के विचारार्थ आरक्षित नहीं किया गया हो। इस पर अध्यादेश जारी करने हेतु भी राष्ट्रपति की पूर्वानुमति आवश्यक है। अगर राज्यपाल ने उपर्युक्त संदर्भों में राष्ट्रपति से पूर्वानुमति प्राप्त किये बिना ही अध्यादेश जारी कर दिये तो उन्हें अवैध करार दे दिया जायेगा। स्टेट ऑफ मैसूर बनाम डॉ. अचैहा चैट्टी नामक विवाद में मैसूर उच्च न्यायालय ने राज्यपाल द्वारा अध्यादेश को असंवैधानिक करार देते हुए कहा कि इसके लिए राष्ट्रपति की पूर्वानुमति के बिना जारी किये जाने से संविधान के अनुच्छेद 213(1) का हनन हुआ है।[19] इसके अतिरिक्त राज्यपाल केवल उन्हीं विषयों पर अध्यादेश जारी करने की शक्ति और क्षमता रखता है, जो राज्य-विधानमंडल के क्षेत्राधिकार में आते हैं। इस तरह से वह भारतीय संविधान के अन्तर्गत राज्य-सूची और समवर्ती सूची के विषयों पर ही अध्यादेश जारी कर सकता है। अगर समवर्ती सूची पर केन्द्र ने कोई कानून बना रखा है, तो उसे प्राथमिकता दी जायेगी। राज्यपाल की अध्यादेश जारी करने की शक्ति और राज्य-विधानमंडल का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। राज्यपाल को प्रत्येक अध्यादेश को राज्य-विधानमंडल में प्रस्तावित करना पड़ता है। विधानमंडल की बैठक के प्रारम्भ होने के छह सप्ताह की समयावधि के समाप्त हो जाने के साथ ही अध्यादेश का प्रभाव भी समाप्त हो जाता है। यदि राज्य-विधानमंडल छह सप्ताह के पूर्व भी उस अध्यादेश को अस्वीकार कर दे तो उसका प्रभाव समाप्त हो जाता है। राज्यपाल द्वारा भी किसी समय अध्यादेश को वापस लिया जा सकता है। जहाँ तक अध्यादेश के प्रभाव का प्रश्न है, राज्यपाल द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेश का वही प्रभाव होता है, जो राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित किये जाने वाले कानूनों का होता है। राज्यपाल को विभिन्न महत्त्वपूर्ण संस्थाओं — राज्य लोकसेवा आयोग, नियंत्रक और महालेखा परीक्षक के वार्षिक प्रतिवेदनों, एवं लोकायुक्त के प्रतिवेदन को राज्य-विधानमंडल में प्रस्तुत करवाने की भी शक्ति प्राप्त है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट हो जाता है कि राज्यपाल को व्यवस्थापन के क्षेत्र में महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त होने के कारण ही उसे राज्य-विधानमंडल का अभिन्न अंग समझा जाता है। साथ ही इन शक्तियों के कारण उसकी राज्य के संवैधानिक प्रधान के साथ-साथ केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में, दोहरी भूमिका उजागर होती है। उसकी राज्य व्यवस्थापन-प्रक्रिया को निर्देशित और नियंत्रित करने में भी अहम् भूमिका है। राष्ट्रपति-शासन के समय उसकी यह भूमिका और भी मुखरित और प्रभावी बन जाती है। राज्य-विधानमंडल के सत्र को आहूत करने, सत्रावसान करने और विघटन करने की शक्ति के कारण वह "राजनीतिक भूमिका" के निर्वाह करने की स्थिति में भी आ जाता है। इन

अधिकारों का प्रयोग करने के कारण वह विवाद से अछूता नहीं रह सकता है। अनेक बार राज्यपालों की यह विधायी-भूमिका देशव्यापी चर्चा और आलोचना का भी विषय बनी। लेकिन इस वास्तविकता को तो स्वीकार करना ही होगा कि राज्यपाल इन अधिकारों का प्रयोग करते समय राज्य की राजनीति में बड़ी ही महत्वपूर्ण भूमिका को अदा करने की स्थिति में होता है।

संदर्भ

1. बसु, दुर्गादास, शार्टर कांस्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, नाइन्थ एडीशन (प्रेन्टिस् हाल ऑफ इण्डिया, प्रायवेट लि., नई दिल्ली, 1984) पृष्ठ 367
2. सिंह, पुरुषोत्तम; गवर्नर्स ऑफिस इन इनडिपेन्डेन्ट इण्डिया [नवयुग साहित्य मंदिर, वैद्यनाथ देवघर (एस.पी.) बिहार, 1968]पृष्ठ 122
3. दहिया, एम.एस.; आफिस ऑफ दि गवर्नर्स इन इण्डिया (संदीप प्रकाशन नई दिल्ली, 1979) पृष्ठ 107
4. गुप्ता, डी.सी., भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, (विकास पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली 1977) पृष्ठ 664
5. ए.आई.आर 1952 कलकत्ता 799 (801) एवं दहिया, एम.एस., उपर्युक्त ।
6. सिवाच, जे.आर., डायनेमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स (स्टर्लिंग पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1985) पृष्ठ 170
7. चतुर्वेदी, मुरलीधर; भारत का संविधान (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983) पृष्ठ 336
8. जैन, एम.पी. ; भारत का संविधान (इलाहबाद ला एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1985) पृष्ठ 123
9. बसु, दुर्गादास ; उपर्युक्त, पृष्ठ 370
10. पाण्डेय, जयनारायण, भारत का संविधान (सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद, 1985) पृष्ठ 355
11. सिंह, पुरुषोत्तम उपर्युक्त, पृष्ठ 130
12. बसु, दुर्गादास ; उपर्युक्त, पृष्ठ 371
13. सिंह, डी.के. ; वी.एन. शुक्लाज् कान्स्टीट्यूशन ऑफ इण्डिया, (सेवन्थ एडीशन, ईस्टर्न बुक कम्पनी, लखनऊ, 1982) पृष्ठ 364
14. ए.आई.आर 1968, एम.पी. पृष्ठ 901
15. ए.आई.आर 1974, सु.को. 1533
16. बसु, दुर्गादास ; उपर्युक्त, पृष्ठ 394
17. ए.आई.आर 1960 उड़ीसा, 46 (54)
18. ए.आई.आर 1970 सु. को. 564
19. ए.आई.आर 1962, मैसूर, 215 (231)

अध्याय - 7

न्यायिक भूमिका

राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में राज्यपाल व्यापक न्यायिक शक्तियों का उपयोग करता है। उसकी राज्य उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति, उनके अवकाश और सेवा-शर्तों के निर्धारण में भी अहम् भूमिका है। इसके अतिरिक्त राज्य के उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की सेवा-शर्तों के नियम बनाने के सम्बन्ध में भी राज्यपाल को महत्त्वपूर्ण अधिकार प्राप्त हैं। राज्य के अधीनस्थ न्यायालयों के न्यायाधीशों की नियुक्ति और पदोन्नति के बारे में भी राज्यपाल को महत्त्वपूर्ण शक्तियाँ प्राप्त हैं । राज्यपाल को यह भी अधिकार दिया गया है कि वह किसी को क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम अथवा दण्ड को कम कर सके।

उच्च न्यायालय से सम्बन्धित शक्तियाँ

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 214 में प्रत्येक राज्य के लिए एक उच्च न्यायालय के गठन का प्रावधान रखा गया है। संविधान के अनुच्छेद 231 (1) के अन्तर्गत भारतीय संसद को दो या अधिक राज्यों तथा एक संघ राज्य-क्षेत्र के लिए एक ही उच्च न्यायालय का गठन करने के लिए प्राधिकृत किया गया है। वर्तमान में हरियाणा और पंजाब के लिए तथा असम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश के लिए और तमिलनाडु तथा पाण्डिचेरी के लिए एक ही उच्च न्यायालय है।[1] इस समय भारतीय संघ के राज्यों और केन्द्र-शासित प्रदेशों के लिए कुल 18 उच्च न्यायालय हैं। इनके नाम हैं — आन्ध्रप्रदेश, गोहाटी (असम, नागालैण्ड, मेघालय, मणिपुर, त्रिपुरा, मिजोरम और अरुणाचल प्रदेश) , बिहार, दिल्ली, गुजरात, जम्मू-कश्मीर, केरल, मध्यप्रदेश, तमिलनाडु, महाराष्ट्र, कर्नाटक, उड़ीसा, पंजाब तथा हरियाणा हाईकोर्ट, राजस्थान, उत्तर प्रदेश (इलाहबाद हाईकोर्ट), पश्चिमी बंगाल, हिमाचल प्रदेश तथा सिक्किम।[2] संविधान के अनुच्छेद 217 (1) में उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति-सम्बन्धी प्रक्रिया का उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार भारत का राष्ट्रपति उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति और राज्य के राज्यपाल के परामर्श से उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश की नियुक्ति करता है। उच्च न्यायालय के अन्य न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय भारत के राष्ट्रपति द्वारा उच्चतम न्यायालय के मुख्य न्यायाधिपति, राज्य के राज्यपाल तथा सम्बन्धित राज्य के उच्च

न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से सलाह ली जाती है। अब इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या राज्यपाल इस प्रकार के परामर्श देते समय अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग करने में सक्षम है ? इस सम्बन्ध में संविधान सभा में प्रारूप समिति के सदस्यों के विचारों से यही अभिव्यक्त होता है कि उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति करते समय राज्य मंत्रिपरिषद् की सलाह को महत्त्व दिया जाना चाहिए। स्वतंत्रता से लेकर वर्तमान तक उच्च न्यायालय के न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय यही परम्परा रही है कि यद्यपि राज्यपाल से सलाह तो ली जाती है, परन्तु निर्णायक भूमिका राज्य के मुख्यमंत्री और उसकी मंत्रिपरिषद् की रहती है। अतः व्यवहार में, 'परामर्श' का तात्पर्य मुख्यमंत्री अथवा मंत्रिपरिषद् के परामर्श से ही लगाया जाता है। इस प्रकार से राज्यपाल इस दिशा में अपने विवेक से कार्य करने में सक्षम नहीं है। संविधान के अनुच्छेद 219 के अन्तर्गत यह व्यवस्था है कि किसी भी राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीश को अपना पद ग्रहण करने से पूर्व उस राज्य के राज्यपाल अथवा उसके द्वारा नियुक्त किसी व्यक्ति के सम्मुख संविधान की तृतीय अनुसूची के प्रपत्र के अनुसार हस्ताक्षर-युक्त शपथ-पत्र प्रतिज्ञान करना होगा।[3] इस शपथ में संविधान के रक्षण, प्रतिरक्षण और अनुरक्षण का संकल्प व्यक्त किया जाता है।

राज्य के राज्यपाल को केवल उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों की नियुक्ति के सम्बन्ध में ही अधिकार प्रदान किये गये हैं। उसे राज्य के उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के वेतन-भत्तों का निर्धारण करने, किसी न्यायाधीश को एक राज्य से दूसरे राज्य में स्थानान्तरित करने और उनको पद से हटाये जाने सम्बन्धी शक्तियाँ प्राप्ति नहीं हैं। इन शक्तियों का उपयोग राष्ट्रपति और भारतीय संसद द्वारा किया जाता है। इन सभी मामलों में राज्यपाल से सलाह नहीं ली जाती है। राज्यपाल को उच्च न्यायालय के न्यायाधीशों के अवकाश-सम्बन्धी अधिकार प्रदान किये गये हैं। इसके अन्तर्गत राज्यपाल राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श कर के किसी न्यायाधीश के अवकाश को स्वीकृत करने, इन्कार करने और कम कर सकने का निर्णय ले सकता है। संविधान के अनुच्छेद 229 के अन्तर्गत किसी राज्य का राज्यपाल उच्च न्यायालय के स्टाफ के सदस्यों की भर्ती और सेवा-शर्तों के निर्धारण करने की शक्ति रखता है।[4] लेकिन इन शक्तियों का भी व्यवहार में प्रयोग राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश द्वारा ही किया जाता है। वह ही राज्य उच्च न्यायालय के अधिकारियों और कर्मचारियों की नियुक्ति करने, उन्हें हटाने और उनकी सेवा-शर्तों से सम्बन्धित नियमों के निर्माण करने की शक्ति का प्रयोग करके उच्च न्यायालय के प्रशासन का नेतृत्व, निर्देशन और नियंत्रण करता है। इस तरह से राज्य उच्च न्यायालय के संगठन और प्रक्रिया सम्बन्धी मामलों में राज्यपाल को सीमित शक्ति ही प्रदान की गई है। इस सीमित शक्ति के कारण राज्यपाल को उच्च न्यायालय की कार्य-विधि में हस्तक्षेप करने की अधिक स्वतंत्रता नहीं दी गई है। उच्च न्यायालयों की स्वतंत्रता को बनाये रखने के लिए ही ऐसा किया गया है।

अधीनस्थ न्यायालय

भारत के न्यायिक-प्रशासन के क्रम में उच्च न्यायालय के बाद अधीनस्थ न्यायालयों को सृजित किया गया है। इन अधीनस्थ न्यायालयों का न्यायिक दृष्टि से बड़ा भारी महत्त्व है, क्योंकि देश के जन-साधारण का इन न्यायालयों से ही अधिक कार्य पड़ता है। इनकी स्वतंत्रता को सुरक्षित रखने के लिए इन्हें कार्यपालिका से पृथक् रखा गया है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 233-237 में इनके संगठन और कार्यप्रणाली के बारे में विश्लेषण मिलता है। अधीनस्थ न्यायालय से तात्पर्य जिला-स्तरीय न्यायालय से ही लिया जाता है। संविधान के अनुच्छेद 233 के अनुसार किसी राज्य के राज्यपाल द्वारा जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति, पद-स्थापना और पदोन्नति करते समय उस राज्य के उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश से परामर्श किया जाता है। इससे तो यही प्रतिध्वनित होता है कि राज्यपाल के लिए जिला-स्तरीय न्यायाधीश की नियुक्ति करते समय उच्च न्यायालय की सलाह मानना अनिवार्य है ? लेकिन मणिसुब्रत जैन बनाम हरियाणा राज्य मामले में उच्चतम न्यायालय ने निर्णय देते हुए यह अभिनिर्धारित किया कि राज्यपाल अनुच्छेद 233 के अधीन जिला न्यायाधीश की नियुक्ति के लिए उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श के अनुसार कार्य करने के लिये आबद्ध नहीं है।[5] इस निर्णय से यही स्पष्ट होता है कि राज्यपाल प्रत्येक स्थिति में उच्च न्यायालय के परामर्श को मानने के लिए बाध्य नहीं है। राज्यपाल उच्च न्यायालय द्वारा दिये गये परामर्श के गुणावगुण पर विचार करके नियुक्ति सम्बन्धी निर्णय ले सकता है। यहाँ यह भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि व्यवहार में राज्यपाल द्वारा की जाने वाली नियुक्तियाँ राज्य मंत्रिपरिषद् द्वारा ही की जाती हैं। जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति केवल उच्च न्यायालय के परामर्श से करने की पुष्टि अनेक महत्त्वपूर्ण मामलों — प्रेमनाथ बनाम राजस्थान, आसाम बनाम रंगा मोहम्मद, ए. पाण्डुरंग राव बनाम आन्ध्र प्रदेश, और हरिदत्त बनाम हिमालच प्रदेश में दिये गये न्यायिक निर्णयों में भी हुई है।[6] जिला न्यायाधीशों की नियुक्ति में राज्यपाल एकपक्षीय निर्णय नहीं ले सकते हैं। उन्हें हर हालत में उच्च न्यायालय से परामर्श करने की औपचारिकता का निर्वाह अवश्य करना पड़ता है। संविधान के अनुच्छेद 236 में जिला न्यायाधीश और 'न्यायिक सेवा' की व्याख्या की गई है। इस व्याख्या के अन्तर्गत "जिला न्यायाधीश" शब्दावली में नगरीय- दीवानी- न्यायाधीश, अतिरिक्त जिला न्यायाधीश, संयुक्त जिला न्यायाधीश, सहायक जिला न्यायाधीश, अल्प मामलों के न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश, मुख्य प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट, अतिरिक्त मुख्य प्रेसीडेन्सी मजिस्ट्रेट, सत्र-न्यायाधीश, अतिरिक्त सत्र-न्यायाधीश एवं सहायक सत्र न्यायाधीश सम्मिलित हैं।[7] अनुच्छेद 234 में राजस्थान के लिए राज्य की 'न्यायिक सेवा' के व्यक्तियों की नियुक्ति करने के लिए उच्च न्यायालय के परामर्श की आवश्यकता नहीं है। वह राज्य लोकसेवा आयोग तथा राज्य उच्च न्यायालय द्वारा बनाये गये नियमों के तहत इन नियुक्तियों को करता है। जहाँ तक जिला-न्यायाधीशों को स्थायी करने, उनका एक स्थान से दूसरे स्थान पर स्थानान्तरण करने का प्रश्न है, ऐसा

करने का अधिकार राज्यपाल को नहीं होकर उच्च न्यायालय को है। संविधान के अनुच्छेद 235 के अन्तर्गत जिला एवं अधीनस्थ न्यायाधीशों के विरुद्ध अनुशासनात्मक कार्यवाही करने का अधिकार भी उच्च न्यायालय को प्रदान किया गया है। लेकिन संविधान के अनुच्छेद 311 में उनको पद से हटाये जाने एवं उनकी पदावनति करने का दायित्व राज्यपाल को सौंपा गया है। लेकिन राज्यपाल इस मामले में भी स्वतंत्र नहीं है। उस पर उच्च न्यायालय की बाध्यता आरोपित कर दी गयी है। इन मामलों में भी राज्यपाल को अनिवार्य रूप से उच्च न्यायालय की सलाह का पालन करना ही पड़ता है। अधीनस्थ न्यायालयों के मामले में राज्यपाल की शक्तियों का अवलोकन करने पर यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है कि ये शक्तियाँ मात्र औपचारिक और सैद्धान्तिक हैं। उसकी अधीनस्थ न्यायाधीशों की नियुक्ति-सम्बन्धी शक्तियाँ ही प्रभावी प्रतीत होती हैं। इन शक्तियों के बाद राज्यपाल का अधीनस्थ न्यायिक प्रशासन में हस्तक्षेप प्रभावी नहीं रहकर नगण्य बन जाता है। उच्च न्यायालय के पास न्यायिक प्रशासन की वास्तविक बागडोर होने के कारण वह इस क्षेत्र में पहल करने की स्थिति में नहीं होता है। संविधान निर्माताओं द्वारा राज्यपाल को न्यायिक प्रशासन में अधिक हस्तक्षेप करने की शक्ति नहीं देने के पीछे मुख्य मन्तव्य यही था कि राज्य की कार्यपालिका की न्यायपालिका में अनुचित दखलन्दाजी नहीं हो। इस सबके बावजूद यह तो मानना ही पड़ेगा कि राज्य का न्यायिक-प्रशासन भी राज्यपाल की भूमिका से अछूता नहीं रहा है। उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश पद पर नियुक्ति के समय वरिष्ठता के सिद्धान्त की अवहेलना और एक राज्य से दूसरे राज्य में उच्च न्यायालयों के न्यायाधीशों के स्थानान्तरण की घटनाओं की बढ़ती प्रवृत्ति ने न्यायिक-क्षेत्र में कार्यपालिका के हस्तक्षेप को बढ़ा दिया है।

क्षमादान करने की शक्ति

राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में राज्यपाल को क्षमादान करने की महत्त्वपूर्ण शक्ति प्रदान की गई है। संविधान के अनुच्छेद 161 के अन्तर्गत उसे ऐसा करने का अधिकार दिया जाता है। राज्यपाल अपने इन अधिकारों का प्रयोग उसी सीमा तक कर सकता है, जहाँ तक राज्य की कार्यपालिका शक्ति का विस्तार है। भारतीय संविधान के अनुच्छेद 161 में यह स्पष्ट रूप से कहा गया है कि राज्य के राज्यपाल को राज्य की कार्यपालिका शक्ति की विस्तार-परिधि में आने वाले किसी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा, प्रतिलम्बन, विराम या परिहार करने या दण्डादेश का निलम्बन करने, परिहार करने तथा लघुकरण करने का अधिकार होगा।[8] राज्यपाल राज्य सूची और समवर्ती सूची (यदि केन्द्रीय कानून न हो तो) में वर्णित विषयों से सम्बन्धित मामलों के बारे में ही ऐसा कर सकेगा। राज्यपाल को मृत्युदण्ड को क्षमा करने का अधिकार नहीं है। भारतीय संघ के राष्ट्रपति को ही ऐसा करने का अधिकार प्रदान किया गया है। राज्यपाल अपने इन अधिकारों का प्रयोग करते समय अनियंत्रित या अमर्यादित रूप से आचरण नहीं करता है। वह ऐसा करते समय राज्य की न्यायपालिका से भी परामर्श करता है।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल से यह अपेक्षा की थी कि वह न्यायिक क्षेत्र में भी राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में अपनी भूमिका को संजोते हुए विधि और संविधान की रक्षा करने के गुरुतर दायित्व का निर्वाह करे। राज्यपाल से यह भी आशा रखी गयी थी कि वह न्यायिक प्रशासन में अनुचित हस्तक्षेप भी नहीं करेगा । साथ ही उन्होंने क्षमादान करने की शक्ति प्रदान करके राज्यपाल को अपनी ओर से पहल करने की गुंजायश भी रख छोड़ी है। परन्तु इस बात को भी ध्यान में रखा जाना चाहिए कि भारतीय संविधान निर्माताओं ने न्यायपालिका की स्वतंत्रता को अक्षुण्ण बनाये रखने के लिए भी सभी संभव प्रयत्न किये।

संदर्भ

1. सिवाच, जे.आर; डायनेमिक्स ऑफ इण्डियन गवर्नमेंट एण्ड पालिटिक्स; ('स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्राइवेट लिमिटेड', नई दिल्ली, 1985) पृष्ठ 213
2. अग्रवाल, आर.सी.; भारतीय संविधान का विकास तथा राष्ट्रीय आन्दोलन, आधुनिक भारत का संविधान (एस.चाँद एण्ड कम्पनी लि. नई दिल्ली, 1985), पृष्ठ 233
3. शर्मा, गंगासहाय; भारत का सविधान (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983), पृष्ठ 295.
4. सिंह, पुरुषोत्तम; गवर्नर्स ऑफिस इन इन्डिपेन्डेन्ट इण्डिया [नवयुग साहित्य मंदिर; वैद्यनाथ देवघर (एस.पी.), बिहार, 1968], पृष्ठ 147.
5. पाण्डेय, जयनारायण; भारत का सविधान, (सेन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद, 1985), पृष्ठ 381
6. जैन, एम.पी.; भारतीय सांविधानिक विधि (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद), पृष्ठ 170
7. चतुर्वेदी, मुरलीधर; भारत का सविधान, (इलाहबाद लॉ एजेन्सी, इलाहबाद, 1983), पृष्ठ 360
8. दहिया, एम.एस.; ऑफिस ऑफ दि गवर्नर्स इन इण्डिया (ए क्रिटीकल कमेन्ट्री); (संदीप प्रकाशन, दिल्ली, 1979) पृष्ठ 217

अध्याय - 8

विवेक का प्रयोग

राज्यपाल को राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष माना जाता है। उसके बारे में आम-धारणा यही पायी जाती है कि वह राज्य-मंत्रिपरिषद् द्वारा लिये गये निर्णयों पर हस्ताक्षर करने की मशीन-मात्र है। अनेक आलोचक तो उसे 'रबर की मोहर','स्वर्णिम शून्य' और 'मंत्रिपरिषद् के हाथों की कठपुतली' तक से विभूषित कर देते हैं। आलोचकों का यह भी तर्क है कि वह अपनी तरफ से कोई पहल नहीं कर सकता है। उसका पद तो मात्र औपचारिक-पद है। निश्चित रूप से, राज्यपाल की सारी शक्तियों और अधिकारों का व्यवहार में राज्य मंत्रिपरिषद् द्वारा प्रयोग किये जाने के कारण इस संस्था के प्रति यह जनधारणा बनी है। लेकिन राज्यपाल की सांविधानिक स्थिति का यह सही मूल्यांकन नहीं है। भारतीय संविधान निर्माताओं ने एक तरफ जहाँ उससे मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुरूप कार्य करने की इच्छा प्रकट की थी, वहाँ दूसरी तरफ उससे 'स्व-विवेक'से भी कार्य सम्पादित करने की अपेक्षा की थी। इसलिए भारतीय संविधान में राज्यपाल को 'स्व-विवेकीय अधिकार' (Discretionary-Powers) प्रदान किये गये हैं। संविधान-प्रदत्त इन शक्तियों का प्रयोग करके राज्यपाल शक्तिशाली रूप से राज्य-प्रशासन में अपनी भूमिका का निर्वाह कर सकता है। इससे वह राज्य में वास्तविक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह कर सकता है। राज्यपाल की इन स्व-विवेकीय शक्तियों ने इस पद को सत्ता और शक्ति की स्थिति प्रदान की है।

राज्यपाल का स्व-विवेक

भारतीय संविधान में राज्यपाल के स्व-विवेक को न तो सुस्पष्ट ही किया गया है, और न ही इस पर कोई सीमा ही आरोपित की गई है। अतएव यह निर्धारित करने का दायित्व राज्यपाल पर छोड़ दिया गया है कि वह स्वयं ही यह निर्धारित करे कि उसे किन विषयों पर अपने इस अधिकार का प्रयोग करना चाहिए। इससे राज्य की राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल की स्थिति सुदृढ़ हो जाती है। राज्यपाल द्वारा स्वयं ही अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों के निर्धारण करने के अधिकार ने उसे राज्य-मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रणकारी स्थिति के आरोपण करने की स्थिति प्रदान कर दी है।

भारतीय संविधान के विभिन्न उपबन्धों में निहित प्रावधानों की भावना से राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियाँ स्पष्ट होती हैं। संविधान का अनुच्छेद 160 भी अप्रत्यक्ष रूप से राज्यपाल के स्व-विवेकीय अधिकारों की पुष्टि करता है। इसमें यह उल्लेख किया गया है कि इस अध्याय (संविधान के भाग 6 का अध्याय 2 कार्यपालिका सम्बन्धी) में उपबन्ध की हुई किसी आकस्मिकता में राज्य के राज्यपाल के कृत्यों का निर्वहन करने के लिए राष्ट्रपति, जैसा उचित समझें, वैसा उपबन्ध बना सकेगा।[1] संविधान के अनुच्छेद 163(1) के अनुसार राज्यपाल जिन कार्यों का निष्पादन अपने स्व-विवेक से करता है, उनके अतिरिक्त शेष समस्त कार्यों में मंत्रिपरिषद् उसे मंत्रणा तथा सहायता-प्रदान करेगी।[2] संविधान के अनुच्छेद 163 खंड (2) यह स्पष्ट करता है कि राज्यपाल उन स्थितियों में मंत्रिपरिषद् की सहायता और मंत्रणा पर कार्य करने के लिए बाध्य नहीं है, जहाँ संविधान ही उन्हें अपने विवेक से कार्य करने की अनुमति प्रदान करता है। उनके विवेक के प्रयोग के सम्बन्ध में यदि कोई विवाद रहता भी है तो उसका अंतिम निपटारा राज्यपाल करते हैं। उनके कार्यों की वैधानिकता का कोई प्रश्न न्यायालय में नहीं उठाया जा सकता।[3] भारतीय संविधान और राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. इकबालनारायण ने राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियों को दो भागों में विभाजित किया है। प्रथम, स्वयं संविधान द्वारा। संवैधानिक विवेक को संविधान द्वारा मान्यता दी गई है, और वह भी असम के संदर्भ में, जहाँ राज्यपाल मंत्रियों के परामर्श के बिना भी कार्य कर सकता है। धारा 163 (1) की शब्दावली व उसमें निहित भावना द्वारा यह भलीभाँति स्पष्ट हो जाता है। उसके अनुसार, "मुख्यमंत्री की अध्यक्षता में एक मंत्रिपरिषद् होगी, जिसका अर्थ राज्यपाल को उसके कार्यों में सलाह व सहायता देना होगा, सिवाय उनके जिनमें उसके लिए संविधान द्वारा, उसमें स्पष्टतः लिखित विषयों के संदर्भ में स्व-विवेक से कार्य करने की आवश्यकता होती है।"[4] दूसरे का सम्बन्ध राज्यपाल के उस विवेक से है, जिसको विशुद्ध रूप से राजनैतिक स्थिति की आवश्यकता से आधार मिल सकता है।[5] इस तरह से राज्यपाल को दो प्रकार से अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग करने के अवसर प्राप्त होते हैं। स्वतंत्रता के पश्चात् विभिन्न राज्यों के राज्यपालों ने अनेक अवसरों पर परिस्थिति-जन्य स्व-विवेक का प्रयोग किया, ऐसे अवसर विगत वर्षों में भारतीय राजनीति के अन्तर्गत अधिक प्राप्त होते रहे जबकि कुछ राज्यों में साझा मंत्रिमंडलों की अस्थिर एवं अनिश्चित् राजनीति व्याप्त थी। इसके विपरीत राजनीतिक समत्व की स्थिति में जब किसी दल को विधानसभा में पूर्ण बहुमत प्राप्त हो, तो वहाँ इसके अवसर कम उपलब्ध होते हैं।[6] परिस्थिति-जन्य स्व-विवेक के प्रयोग के कारण ही राज्यपाल संस्था विवादास्पद हुई।

अनेक परिस्थितियों में परिस्थिति-जन्य स्व-विवेक का प्रयोग किया जा सकता है। डॉ. एम.पी. राय ने इन परिस्थितियों को निम्नलिखित रूप से विश्लेषित किया है — किसी एक दल को विधानसभा में स्पष्ट बहुमत प्राप्त न हो, संयुक्त सरकार का गठन हो और आपसी फूट के कारण शासन का सुचारु संचालन कठिनाई में पड़ रहा हो, दलबदल के कारण सरकार के अस्तित्व को खतरा पैदा हो गया हो या उसकी संभावना हो; और

मंत्रिमंडल में विधानसभा के अविश्वास की स्थिति पैदा हो गई हो।[7] इस अधिकार के कारण राज्यपाल की शक्तियों में भारी वृद्धि हो जाती है।

स्व-विवेक से कार्य करने के मामले में राज्यपाल की स्थिति भारतीय संघ के राष्ट्रपति से भी अधिक बेहतर है। राज्यपाल और राष्ट्रपति की शक्तियों में एक महत्त्वपूर्ण अन्तर यही है कि संविधान में राष्ट्रपति को अपने 'विवेक' से कुछ करने की शक्ति प्रदान नहीं की गयी है, जबकि कुछ परिस्थितियों में राज्यपाल अपने स्व-विवेक से कुछ कार्य कर सकता है।[8] इस तरह से भारतीय संघ का राष्ट्रपति अपने प्रत्येक कार्य के निर्वाह करने हेतु केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् की सलाह और सहायता लेने के लिए बाध्य है। संविधान के बयालीसवें संविधान संशोधन ने राष्ट्रपति पर यह बन्धन लगा दिया है कि उसे हर परिस्थिति में मंत्रिमंडल के निर्णयों को स्वीकार करना ही होगा। इस संविधान संशोधन ने राष्ट्रपति की सांविधानिक भूमिका को पूरी तरह से सीमित कर दिया था। 44वें संविधान संशोधन के पारित होने के बाद भी राष्ट्रपति की स्थिति में आधारभूत अन्तर नहीं आया है। वर्तमान में भी वह केन्द्रीय मन्त्रिपरिषद् के विरुद्ध अपने स्व-विवेक से कार्य करने की स्थिति में नहीं है। इस प्रकार से राष्ट्रपति के लिए अपनी केन्द्रीय मंत्रिपरिषद् द्वारा लिये गये निर्णयों के अनुरूप आचरण करना बाध्यकारी हो गया है। राज्यपाल की इन स्व-विवेकीय शक्तियों को भारत के सर्वोच्च न्यायालय ने भी पुष्ट किया है। शमशेरसिंह बनाम स्टेट ऑफ पंजाब विवाद में निर्णय देते हुए सर्वोच्च न्यायालय ने राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियों पर पर्याप्त प्रकाश डाला। इस निर्णय में कहा गया था कि कुछ मामले ऐसे भी हो सकते हैं, जिनमें राज्यपाल अपने स्व-विवेक से कार्य कर सकता है, और जिसमें वह मंत्रिपरिषद् की सलाह लेने या उस सलाह को मानने के लिए बाध्य नहीं है।[9] इस तरह से राज्यपाल की इन स्व-विवेकीय शक्तियों का संवैधानिक आधार है। भारतीय संसद इनमें वृद्धि कर सकती है, इन्हें कम कर सकती है,और इनको समाप्त भी कर सकती है।

स्व-विवेक का क्षेत्राधिकार

प्रसिद्ध संविधान-समीक्षक डॉ. एम.वी. पायली ने राज्यपाल की इन शक्तियों पर विशद् प्रकाश डाला है। उनके अनुसार अनेक परिस्थितियों में राज्यपाल इन शक्तियों का प्रयोग करने की स्थिति में हो सकते हैं। ये परिस्थितियाँ हैं — मंत्रिपरिषद् की स्थापना के पूर्व मुख्यमंत्री का चुनाव, मंत्रिमंडल को पदच्युत करना, विधानसभा का विघटन करना, मुख्यमंत्री से प्रशासनिक तथा विधायी कार्यों के सम्बन्ध में सूचना माँगना, किसी एक मंत्री द्वारा किए गए निर्णय (जिस पर मंत्रिपरिषद् ने विचार न किया हो) को मंत्रिपरिषद् के समक्ष विचारार्थ प्रस्तुत कराने के लिए मुख्यमंत्री को आदेश देना, विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को स्वीकृति न देकर उसे पुनर्विचार के लिए लौटा देना, राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित किसी विधेयक को राष्ट्रपति की स्वीकृति के लिए विचारार्थ रखना; किसी अध्यादेश को प्रख्यात करने से पूर्व राष्ट्रपति से अनुदेश की याचना करना और राष्ट्रपति को आपात् परामर्श देना, इत्यादि।[10] डॉ. परमात्माशरण ने भी इन अवसरों को अग्रलिखित

रूप से गिनाया है — मुख्यमंत्री की छाँट, मंत्रिपरिषद् को अपदस्थ करना, विधानसभा का विघटन, मुख्यमंत्री से सूचना प्राप्त करना, मुख्यमंत्री से यह कहना कि वह किसी ऐसे मामले को जिस पर किसी मंत्री ने निर्णय कर लिया हो किन्तु जो मंत्रिमंडल के सामने न आया हो, मंत्रिमंडल के सामने रखे; किसी विधेयक पर अनुमति न देना और उसे पुनर्विचार के लिए वापिस भेजना, राज्य के विधानमंडल द्वारा पारित विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए रोके रखना, कुछ मामलों में अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति का अनुदेश प्राप्त करना, और राष्ट्रपति को अपातकाल की उद्घोषणा के लिए परामर्श देना।[11] भारतीय संविधान में राज्यपाल की स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग के निम्नलिखित क्षेत्र हैं — प्रथम, संविधान के अनुच्छेद 239 (2) के अनुसार राज्यपाल द्वारा संघीय क्षेत्र के प्रशासक के रूप में कार्य करते हुए इस शक्ति का प्रयोग करना; द्वितीय, संविधान के अनुच्छेद 167 (ग) के अन्तर्गत किसी मंत्री द्वारा व्यक्तिगत रूप से लिये गये निर्णय पर विचार करने हेतु राज्यपाल का मुख्यमंत्री को मंत्रिपरिषद् की बैठक में उस विषय पर विचार करने का परामर्श देना; तृतीय, अनुच्छेद 200 के अन्तर्गत राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों को राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखना; चतुर्थ, अनुच्छेद 209 के अन्तर्गत विधानसभा की कार्यवाही का संचालन करने की प्रक्रिया को विनियमित करने हेतु अध्यादेश जारी करना; एवम् संविधान के अनुच्छेद 164 (1) के अनुसार राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति सम्बन्धी स्व-विवेकीय शक्तियाँ; पंचम्, राज्य मंत्रिपरिषद् को बर्खास्त करने के सम्बन्ध में; षष्ठम्, राज्य विधानसभा को विघटित करना, सप्तम्, विधानसभा का अधिवेशन बुलाना; अष्टम्. राज्यों में राष्ट्रपति-शासन लागू करने के सम्बन्ध में राष्ट्रपति को परामर्श देना; नवम्, अध्यादेश जारी करने के पूर्व राष्ट्रपति से निर्देश माँगना; और यदि केन्द्र व राज्य के बीच दोनों की प्रशासकीय सत्ता के प्रयोग पर कोई झगड़ा उत्पन्न हो जाये तो उस पर अपना निर्णय देना।[12]

भारतीय संविधान में अनेक राज्यों के राज्यपालों को इन स्व-विवेकीय अधिकारों से सुसज्जित किया गया है। संविधान की छठी अनुसूची के पैराग्राफ 1(2) के अन्तर्गत[13] असम के राज्यपाल को वहाँ के आदिम-क्षेत्रों के प्रशासन के सम्बन्ध में तथा खानों की रॉयल्टी के सम्बन्ध में असम सरकार तथा जिला परिषदों के बीच उत्पन्न हुए विवादों को निपटाने हेतु अपना विनिश्चय प्रदान करने सम्बन्धी स्व-विवेक का प्राधिकार दिया गया है।[14] अनुच्छेद 371 (क) के अन्तर्गत नागालैण्ड के राज्यपाल को वहाँ की उपद्रवग्रस्त स्थिति को देखते हुए वहाँ कानून-व्यवस्था बनाये रखने का विशेष उत्तरदायित्व सौंपा गया है। यह भी स्पष्ट कहा गया है कि इस मामले में राज्यपाल मंत्रिपरिषद् से सलाह-मशविरा करने के बाद भी व्यक्तिगत निर्णय ले सकता है।[15] जब मणिपुर को राज्य का दर्जा मिला, तो अनुच्छेद 371-ग के अन्तर्गत राज्यपाल को पहाड़ी क्षेत्रों के मामले में इसी तरह "विशेष उत्तरदायित्व" सौंपा गया। इसी प्रकार जब सिक्किम को भारतीय संघ के राज्य के रूप में शामिल किया गया, तो लेपचा, भौटिया और अनुसूचित जातियों को संरक्षण

प्रदान करने के मामले में गंभीर समस्या खड़ी हुई, तब भी अनुच्छेद 371-च के अन्तर्गत राज्यपाल को सिक्किम की आबादी के विभिन्न वर्गों के बीच सम्बन्धों का तालमेल करने के लिए "विशेष उत्तरदायित्व" सौंपा गया।[16] 9 दिसम्बर, 1986 को उत्तर-पूर्व में केन्द्र-शासित प्रदेश अरुणाचल को राज्य का दर्जा दिए जाने सम्बन्धी विधेयक को संसद की स्वीकृति मिलने के साथ ही अरुणाचल को देश के 24वें राज्य के रूप में मान्यता प्राप्त हो गई। लेकिन लोकसभा और राज्यसभा, दोनों ही सदनों में विपक्ष ने राज्यपाल को कानून एवं व्यवस्था के बारे में विशेषाधिकार देने का विरोध किया। उसी दिन तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. राजीव गाँधी ने बहस में हिस्सा लेते हुए राज्यसभा को आश्वस्त किया कि सीमा पर स्थिति सामान्य होते ही राज्यपाल के विशेषाधिकार वापस ले लिए जाएँगे। लेकिन विपक्ष इससे भी संतुष्ट नहीं हुआ और विशेषाधिकार प्रावधान, विधेयक से हटाने के लिए सभापति की विशेष अनुमति से संशोधन पेश किया। सदन ने तेलगुदेशम् के पी. उपेन्द्र और मार्क्सवादी साम्यवादी पार्टी के निर्मल चटर्जी के इस संशोधन को 31 के मुकाबले 153 मतों से अस्वीकार कर दिया। विपक्ष ने इस प्रावधान वाली धारा पर मत नहीं दिया, लेकिन संपूर्ण संशोधन विधेयक के पक्ष में वोट दिया। चर्चा का जवाब देते हुए तत्कालीन केन्द्रीय गृहमंत्री बूटासिंह ने कहा कि अरुणाचल के भौगोलिक और सामरिक महत्त्व को देखते हुए राज्यपाल को विशेषाधिकार देने का 'अस्थायी'प्रावधान किया गया है। उन्होंने कहा कि अरुणाचल प्रदेश को पूर्ण राज्य का दर्जा दिया जाना, इस बात का ज्वलंत उदाहरण है कि आन्दोलनों के बिना भी राजनीतिक उद्देश्य पूरे हो सकते हैं। प्रधानमंत्री स्व. राजीव गाँधी ने कहा कि राज्य में कानून और व्यवस्था के मामले में राज्यपाल को विशेष अधिकार दिए गए हैं। ऐसा सीमावर्ती राज्य होने की विशेष परिस्थितियों के कारण किया जा रहा है। श्री गाँधी ने सदस्यों को याद दिलाया कि नागालैण्ड के राज्यपाल को भी ऐसे अधिकार प्राप्त हैं, लेकिन उन्होंने अब तक इनका उपयोग नहीं किया है। दोनों विधेयकों को स्वीकार करने की अपील करते हुए श्री गाँधी ने कहा कि पूर्ण राज्य का दर्जा प्राप्त करने से केन्द्र-शासित प्रदेश के लोगों को राष्ट्रीय जीवन की मुख्य धारा में शामिल होने में मदद मिलेगी, साथ ही राज्य का आर्थिक और सामाजिक विकास तेजी के साथ होगा। चर्चा के दौरान विपक्षी सदस्यों ने कहा कि संसदीय लोकतांत्रिक प्रणाली में राज्यपाल को लोकप्रिय सरकार से अधिक अधिकार देना अनुचित है। मार्क्सवादी पार्टी के मुस्तफा बिन कासिम ने कहा कि यदि राज्यपाल ने मंत्रिमंडल की सलाह के विपरीत काम किया तो संवैधानिक संकट पैदा हो जाएगा। अन्नाद्रमुक के एम. कादरशा ने कहा कि अरुणाचल प्रदेश के राज्यपाल को विशेषाधिकार देने की कोई आवश्यकता नहीं है।[17] इस तरह से उत्तरी-पूर्वी राज्यों के राज्यपालों को सीमान्त प्रदेश होने के कारण विशेष अधिकार प्रदान किये गये हैं।

संविधान के अनुच्छेद 371 के अधीन पंजाब तथा आन्ध्रप्रदेश में स्थापित क्षेत्रीय समितियों के सम्बन्ध में भी सम्बन्धित राज्यपाल पर यह दायित्व आरोपित किया गया है

कि वह इनके संचालन की उचित व्यवस्था करे।[18] महाराष्ट्र एवं गुजरात के राज्यपालों को संविधान के अनुच्छेद 371 (2) के अन्तर्गत विदर्भ, मराठवाड़ा, सौराष्ट्र और कच्छ के लिए बने विकास निगमों के बारे में विशेष उत्तरदायित्व सौंपे गये हैं।[19] इन स्व-विवेकीय शक्तियों से युक्त राज्यपालों की स्थिति देश के अन्य राज्यपालों की तुलना में शक्तिशाली है।

सन् 1967 ई. पूर्व केन्द्र और प्रायः सभी राज्यों में (कुछ अपवादों को छोड़कर) कांग्रेस दल का शासन होने के कारण राज्यपाल के ये अधिकार अधिक विवाद के विषय नहीं बने। यद्यपि इस काल में भी विपक्षी दलों द्वारा इस अधिकार के दुरुपयोग की शिकायतें की जाती रहीं। सन् 1959 ई. में केरल में केन्द्र द्वारा श्री ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व वाली प्रथम साम्यवादी सरकार को बर्खास्त करने के फैसले की विपक्ष द्वारा देशव्यापी भर्त्सना की गई। राज्यपाल के स्व-विवेकीय अधिकारों की निन्दा की गई। लेकिन ऐसी घटनाएँ भी अपवाद रूप में ही हुईं। सन् 1967 ई. के चुनाव में गैर कांग्रेसवाद की आँधी ने न केवल केन्द्र में कांग्रेस का बहुमत कम कर दिया, अपितु अनेक राज्यों में उसे सत्ता से वंचित करके विपक्ष में बैठने के लिए बाध्य कर दिया। देश के राजनीतिक रंगमंच पर यह सर्वथा नया परीक्षण था। विपक्ष द्वारा 'दलबदलुओं'को मुख्यमंत्रियों के रूप में प्रतिष्ठित करके उत्तरप्रदेश, हरियाणा और मध्यप्रदेश में कांग्रेसी सरकारों को गिराया गया। दूसरी तरफ कांग्रेस भी इसका प्रत्युत्तर देने के लिए कृतसंकल्प थी। राज्यों में कांग्रेस विपक्ष की सकारात्मक भूमिका का निर्वाह नहीं कर सकी। वह भी इन गैर-कांग्रेसी सरकारों को गिराने की दौड़ में शामिल हो गई। गैर-कांग्रेसी सरकारों की आन्तरिक उठापटक, नेतृत्व के लिए संघर्ष, विधायकों में मंत्रिपद की भूख और सरकार में शामिल दलों के नीति सम्बन्धी झगड़ों के कारण इनकी स्थिरता के आगे प्रश्नवाचक चिह्न उपस्थित हो गया। दलबदल की सतत प्रक्रिया ने राज्यों का वातावरण विषाक्त कर दिया। फलस्वरूप एक के बाद एक सरकारें बनती गईं और मिटती गईं। राज्यपालों के लिए यह अत्यधिक कठिन स्थिति थी। विधानसभा में उनके लिए किसी दल अथवा गठबंधन के बहुमत का निर्धारण करना दुरूह बन गया। फलस्वरूप अनेक राज्यपालों द्वारा ईमानदारी से लिये गये निर्णय भी आलोचना के पात्र बने। सत्ता की इस दौड़ में, राज्यपालों के निर्णयों से जिस पक्ष को नुकसान उठाना पड़ा, उसने संसद, राज्य विधानसभा और यहाँ तक कि सड़कों पर भी राज्यपालों पर आरोपों-प्रत्यारोपों और आलोचना की झड़ी लगा दी। राज्यपालों की स्व-विवेकीय भूमिका देश-व्यापी बहस का विषय बनी। इसमें भी कोई दो राय नहीं है कि केन्द्रीय दबाव और राज्यों की दलबदल की राजनीति में कतिपय राज्यपाल भी निष्पक्ष नहीं रह सके और उनके द्वारा समान परिस्थितियों में दोहरे मापदण्ड अपना कर सत्तारूढ़ दल को लाभ पहुँचाया गया। देश के सांविधानिक विशेषज्ञों और समीक्षकों द्वारा राज्यपालों की इन स्व-विवेकीय शक्तियों के आगे प्रश्नवाचक चिह्न लगाया

गया। स्वतंत्रता के बाद पहली बार ये अधिकार इस तरह से सार्वजनिक बहस के शिकार बने।

ज्वलन्त प्रश्न

स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद से वर्तमान तक राज्यपालों ने जिस तरह से अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग किया, उससे कुछ सामयिक प्रश्न उजागर होते हैं। प्रथम, भारतीय संविधान में राज्यपाल के स्व-विवेकीय अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या नहीं मिलती है। अतः प्रत्येक द्वारा इनका भिन्न-भिन्न अर्थ लगाया जाता रहा है। भिन्न-भिन्न अर्थ लगाये जाने की प्रवृत्ति से राज्यपाल भी अपने को अलग नहीं रख सके हैं। अतः इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या यह प्रवृत्ति सांविधानिक दृष्टि से उचित है ? क्या इससे अनुचित सांविधानिक बहस को प्रश्रय नहीं मिलता है ? राज्यपालों के इन अधिकारों की स्पष्ट व्याख्या की जानी चाहिए, ताकि कोई इनका मनचाहा अर्थ नहीं लगा सके। द्वितीय, क्या इन अधिकारों के होते हुए राज्यपाल राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष मात्र है, अथवा वास्तविक अध्यक्ष ? या उसकी स्थिति इन दोनों से भी बढ़कर है? निरपेक्ष स्व-विवेक से निरंकुशता की स्थिति को तो बढ़ावा नहीं मिलेगा? इस सम्बन्ध में डॉ. एम.वी. पायली का कहना है कि "निरपेक्ष स्वविवेक निरंकुशता का प्रतीक है। लोकतांत्रिक संविधान के अन्तर्गत राज्यपाल किसी भी परिस्थिति में निरंकुश नहीं हो सकता है।" डॉ. मुरलीधर चतुर्वेदी की मान्यता है कि राज्यपाल जब अपने विवेक का प्रयोग करते हैं, तब वे केन्द्र के अभिकर्ता बन जाते हैं। यद्यपि वे राज्य-कार्यपालिका के प्रधान हैं, परन्तु कुछ मामलों में उनकी स्थिति राष्ट्रपति से भिन्न होती है। भारत सरकार का निर्देश मिलने पर वे वास्तविक प्रशासक बन जाते हैं और इन स्थितियों में वे मुख्यमंत्री की सलाह की अवज्ञा भी कर सकते हैं।[20] निस्संदेह, राज्यपाल की स्थिति उस समय वास्तविक अध्यक्ष की बन जाती है, जबकि किसी मुख्यमंत्री का विधान सभा में बहुमत समाप्त हो गया हो, या विधानसभा में मंत्रिमंडल के विरुद्ध अविश्वास पारित हो गया हो, या मंत्रिमंडल के त्यागपत्र के बाद कोई अन्य दल स्थायी सरकार बनाने की स्थिति में नहीं हो। ऐसी स्थिति में राज्यपाल की स्थिति शक्तिशाली बन जाती है। इस समय उसके पास अनेक विकल्प शेष रहते हैं। प्रथम, वह निवर्तमान मुख्यमंत्री को ही वैकल्पिक व्यवस्था होने तक अपने पद पर बने रहने के लिए कहे। द्वितीय, वह विपक्ष के नेता को मुख्यमंत्री के रूप में मनोनीत करे और उसे विधानसभा में अपना बहुमत सिद्ध करने के लिए पर्याप्त समय देकर उसे जोड़-तोड़ करने का अवसर प्रदान करे। तृतीय, राज्य में अल्पसमय के लिए राष्ट्रपति शासन लागू करने के लिए राष्ट्रपति को परामर्श दें, और विधानसभा को स्थगित करने की सलाह दें। और, राज्यविधानसभा को भंग करने और राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू करके नये चुनाव संपन्न कराने का मार्ग प्रशस्त करें। इस तरह से राज्यपाल की स्थिति प्रभावी बन जाती है, और वह राज्य के शक्तिशाली कार्यकारी अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह कर सकता है। तृतीय, अगर राज्यपाल अपनी सांविधानिक-शक्तियों

का दुरुपयोग करे, अथवा स्वेच्छाचारी आचरण करे, अथवा सांविधानिक मान्यताओं का हनन करे तो क्या उसकी निरंकुशता को रोका जा सकता है ? निश्चित रूप से, राज्यपाल अपनी इन स्व-विवेकीय शक्तियों का अमर्यादित ढँग से प्रयोग कर सकता है। वह राज्य विधानसभा और मंत्रिमंडल की उपेक्षा कर सकता है। राज्य विधानसभा द्वारा उसे महाभियोग की प्रक्रिया के द्वारा भी हटाया नहीं जा सकता है। वह इन शक्तियों का प्रयोग व्यक्तिगत-महत्त्वाकांक्षा की पूर्ति या दलगत राजनीति की दृष्टि से भी कर सकता है। इन सबके परिप्रेक्ष्य में इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या उसकी इन शक्तियों को नियंत्रित किया जा सकता है ? इस प्रश्न के प्रत्युत्तर के सम्बन्ध में डॉ. एम.वी. पायली का यह कथन सार्थक सिद्ध हो सकता है कि सामान्य तथा असामान्य परिस्थितियों में राज्यपाल अपने स्व-विवेकाधिकार के प्रयोग में स्वतंत्र नहीं है।[21] डॉ. पायली का यह मत ठीक ही प्रतीत होता है, क्योंकि राज्यपाल पर राष्ट्रपति का पूरा नियंत्रण होता है। राज्यपाल द्वारा निरंकुश आचरण करने की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा उसे चेतावनी दी जा सकती है, और अंतिम रूप से उसके द्वारा उसे अपने पद से भी हटाया जा सकता है। इसके अलावा विपक्ष और जनमत की शक्ति भी राज्यपाल की कार्यपद्धति और आचरण पर नियंत्रण रखती है। लेकिन अगर केन्द्रीय नेतृत्व की राज्यपाल को शह है तो वह अपने इन अधिकारों का राजनैतिक और नाटकीय ढँग से प्रयोग करने की स्थिति में आ सकता है। ऐसी स्थिति में वह न केवल राज्यमन्त्रिपरिषद् पर अपनी राय थोपने का ही प्रयत्न करेगा अपितु उसके मार्ग में अवरोध भी उपस्थित करेगा। इससे अवांछित संघर्ष, तनाव और मनोमालिन्य का वातावरण बन सकता है। ऐसी दुर्भाग्यपूर्ण स्थिति को किसी भी संघात्मक राज्य में वांछनीय नहीं कहा जा सकता है। पश्चिमी बंगाल, पंजाब, उत्तरप्रदेश, राजस्थान, सिक्किम, आन्ध्रप्रदेश, जम्मू-कश्मीर, हरियाणा, कर्नाटक और मध्यप्रदेश में राज्यपालों की कार्यवाहियों की देशव्यापी निन्दा और स्तुति हुई। ऐसा इसलिए हुआ, क्योंकि इन राज्यों के राज्यपालों द्वारा समान परिस्थितियों में ही न तो समान मापदण्ड अपनाया गया और न ही अपनी स्वेच्छाचारिता पर अंकुश ही लगाया गया। इस तरह से स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग में स्वेच्छाचारिता के तत्त्व के दर्शन होते हैं।[22] अतः आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल की इन शक्तियों को सही रूप से उपयोग में लाने हेतु और जनतांत्रिक परम्पराओं को अक्षुण्ण रखने के लिए उसे दिशा-निर्देश प्रदान किये जाये।

सन् 1969 में प्रशासनिक सुधार आयोग ने यह अनुभव किया कि राज्यपालों द्वारा की जाने वाली कार्यवाहियों में एकरूपता लाने के लिए पक्षपात अथवा निरंकुशता के संदेह के निराकरण करने हेतु ऐसे मार्गदर्शक सिद्धान्त आवश्यक हैं।[23] राजमन्नार समिति और राज्यपाल समिति ने इस अभिमत को दोहराया है कि राज्यपालों द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली शक्तियों के उपयोग हेतु स्पष्ट दिशा-निर्देश बनाये जाने चाहिए। यद्यपि सभी को इन दिशा-निर्देशों में समाहित करना संभव नहीं होगा। अतः अच्छा यही होगा कि राज्यपालों द्वारा प्रयुक्त की जाने वाली इन स्व-विवेकीय शक्तियों में एकरूपता स्थापित की जाए। इस निर्देश-संहिता (Code of instructions) हेतु संविधान में संशोधन कर 'राज्यपाल

को दिशा-निर्देश' नाम से एक नया परिशिष्ट जोड़ा जाना चाहिए।[23] निश्चित रूप से, राज्यपालों की स्वेच्छाचारिता पर नियंत्रण रखने, संवैधानिक मापदण्डों में समानता और एकरूपता को बचाये रखने और उन्हें अनावश्यक विवादों से बचाये रखने के लिए मार्गदर्शक सिद्धान्तों का विकास करना अपेक्षित है। लेकिन यह भी यथार्थ है कि सारे लिखित दिशा-निर्देश प्रदान करना संभव नहीं है। अतः स्वस्थ और स्वीकार्य दिशा-निर्देशों को अपनाने और स्वस्थ परम्पराओं का विकास करने से ही इस विवाद से बचा जा सकता है।

डॉ. इकबाल नारायण की यह मान्यता इस विवाद को समाप्त कराने में सहायक बन सकती है कि राज्यपाल से यह अपेक्षा की जाती है कि वह राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करे और इस प्रकार अपनी कर्त्तव्यनिष्ठा से यह आभास देना समाप्त करे कि अपने स्थिति-जन्य विवेक के प्रयोग में वह केन्द्र द्वारा प्रेरित होता है।[24] उसे यह सन्तुलन बनाना ही होगा।

उपर्युक्त विश्लेषण के आधार पर यह कहा जा सकता है कि इन अधिकारों के कारण राज्यपालों को राज्यों की राजनीति में महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त हो गया है। इन अधिकारों के कारण उसके शक्तिसंपन्न स्वरूप का भी आभास होता है। अतः राज्यपालों को नाममात्र का सांविधानिक अध्यक्ष मानना बड़ी भारी भूल होगी। लेकिन इन अधिकारों से तात्पर्य स्वेच्छाचारिता नहीं माना जाना चाहिए, उन पर केन्द्र का पूरा नियंत्रण है। फिर भी ये अधिकार उसे शक्तिशाली राज्याध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करने का समुचित अवसर प्रदान करते हैं। राज्यपालों से यह भी अपेक्षा की जा सकती है कि वह इन अधिकारों का प्रयोग करते समय अत्यन्त सतर्कता और समझदारी का परिचय दें, ताकि उन पर अनुचित प्रहार नहीं किये जा सकें। भावुकता या दबाव में लिये गये 'राजनीतिक-निर्णयों' से उनकी प्रतिष्ठा और गरिमा को आँच आ सकती है।

संदर्भ

1. राव,डॉ. एम.पी., भारतीय शासन एवं राजनीति, (कॉलेज बुक डिपो, जयपुर, 1981),पृष्ठ, 556
2. शर्मा, गगासहाय; भारत का संविधान, (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983),पृष्ठ, 279
3. चतुर्वेदी, मुरलीधर; भारत का संविधान, (इलाहबाद लॉ एजेन्सी पब्लिकेशन्स, इलाहबाद, 1983), पृष्ठ334
4. नारायण, डॉ. इकबाल; भारत सरकार एवं राजनीति (सम्पादित) खंड 1, राज्यपाल का पद : भूमिका निर्धारण की समस्या; (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1974) पृष्ठ, 269
5. तत्रैव।
6. जैन, सत्यनारायण; भारतीय संविधान और राजनीति; (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1984) पृष्ठ, 249
7. राव, डॉ. एम.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 557
8. पाण्डेय, जयनारायण; भारत का संविधान (सैन्ट्रल लॉ एजेन्सी, इलाहबाद, 1985) पृष्ठ, 330

9. ए.आई.आर. 1974, सु.को. 2192
10. राय, डॉ. एम.पी. उपर्युक्त ।
11. शरण, डॉ. परमात्मा; भारतीय शासन और राजनीति, (रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, 1983) पृष्ठ, 311
12. जोहरी, डॉ. जे.सी. भारतीय शासन और राजनीति, (विशाल पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1975) पृष्ठ, 211
13. चतुर्वेदी, मुरलीधर; उपर्युक्त, पृष्ठ, 331 एवं लिमये,मधु; समझौता और उत्तरी-पूर्वी भारत : नवभारत टाइम्स; जयपुर, 21 सितम्बर,1986, पृष्ठ, 4
14. शर्मा, गंगासहाय; उपर्युक्त, पृष्ठ, 274
15. शरण,डॉ. परमात्मा; उपर्युक्त, पृष्ठ, 304-305 एवं लिमये, मधु; उपर्युक्त ।
16. लिमये, मधु; उपर्युक्त ।
17. नवभारत टाइम्स, जयपुर , दिसम्बर 10,1986, पृष्ठ, 1
18. शर्मा, गंगासहाय ; उपर्युक्त, पृष्ठ, 280
19. शरण, डॉ. परमात्मा; उपर्युक्त, पृष्ठ, 304-305
20. चतुर्वेदी, मुरलीधर; उपर्युक्त, पृष्ठ, 334
21. राय,डॉ. एम.पी. उपर्युक्त, पृष्ठ, 559
22. बाम्बवाल, के. आर. नेशनल पावर एण्ड स्टेट आटानोमी (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977) पृष्ठ, 78
23. चन्द्रपाल,डॉ; स्टेट ऑटोनोमी इन इण्डिया, (दीप एण्ड दीप पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1984) पृष्ठ, 162
24. नारायण,डॉ. इकबाल; भारतीय सरकार एवं राजनीति, (सम्पादित) खंड 1,(राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1974) पृष्ठ, 270

अध्याय - 9

दिल्ली का दूत

विधान सभा में राज्यपाल की संस्थागत स्थिति पर संविधान निर्माताओं ने अत्यन्त सूक्ष्मता और दूरदर्शितापूर्ण विचार किया था। उनके विचारों का विश्लेषण करने से इस बात का पता चलता है कि उन्होंने राज्य के राज्यपाल से प्रथम, राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में, और दूसरी तरफ उसमें राज्यों में 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता'(Agent of the Centre) की भूमिका का निर्वाह करने की अपेक्षा की थी। केन्द्र के अभिकर्त्ता की भूमिका के निर्धारण करने के पीछे संविधान निर्माताओं का एक सुस्पष्ट विचार दर्शन था। देश के विभाजन ने भारतीय संघीय व्यवस्था के सम्मुख गहन चुनौतियाँ उपस्थित कीं। इनमें राष्ट्रीय एकता और अखंडता की सुरक्षा, प्रान्तों में संकीर्णता, पृथकतावादी और विघटनवादी शक्तियों की चुनौती, प्रान्तों में संविधान और विधि के अनुरक्षण की समस्या, और राज्यों पर केन्द्र के प्रभावशाली नियंत्रण इत्यादि समस्याओं को रखा जा सकता था। इन समस्याओं को ध्यान में रखकर ही राज्यपाल संस्था की कार्यपद्धति को निर्धारित किया गया। केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में राज्यपाल पद का सृजन करते समय संविधान निर्माताओं की मंशा यह थी कि यह संस्था देश की एकता और अखंडता को सुरक्षित रखने में महान् योगदान देने के साथ-साथ सहकारी संघवाद के आदर्शों को भी साकार कर सकेगी। इस संस्था के माध्यम से उन्होंने भारतीय संघ में केन्द्रीयकरण और विकेन्द्रीयकरण की भावना के मध्य अद्‌भुत समन्वय स्थापित करने का प्रयास किया। राज्यपाल से उन्होंने यह अपेक्षा की थी कि वह न केवल राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में राज्य में संविधान और विधि की ही रक्षा करेगा, अपितु राज्य में राष्ट्र-विरोधी और विघटनवादी शक्तियों को भी कुचलने में सक्षम सिद्ध होगा। संविधान निर्माताओं की यह भी इच्छा थी कि राज्यपाल राज्यों में केन्द्रीय-सर्वोच्चता के प्रतीक बनकर जहाँ एक तरफ राज्यों और केन्द्र में प्रशासनिक एकरूपता को कायम करेंगे, वहाँ दूसरी तरफ केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास की 'मधुर कड़ी' का कार्य भी करेंगे। इस प्रकार से 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता' के रूप में राज्यपाल से संविधान निर्माताओं को बड़ी अपेक्षा थी। सन् 1947 ई. से लेकर 1949 ई. तक के शासन संचालन का जो अनुभव संविधान निर्माताओं ने प्राप्त किया था, उससे वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि यदि देश में राष्ट्रीय एकता स्थापित करनी है तो यह आवश्यक है कि राज्यपाल

केन्द्र और राज्यों को जोड़ने वाली कड़ी के रूप में कार्य करें।[1] प्रसिद्ध संविधानवेत्ता अल्लादी कृष्णास्वामी अय्यर ने संविधान सभा में कहा था कि राष्ट्रपति द्वारा नामांकित राज्यपाल केन्द्र और राज्य के बीच उचित सम्बन्धों की स्थापना कर सकेगा तथा आपस में होने वाले विवादों को हल करने में सहायक बनेगा।[2] पंडित जवाहरलाल नेहरू ने भी कहा था कि "एक नामजद राज्यपाल प्रान्तों में विघटनवादी शक्तियों को नियंत्रित कर सकेगा।" देश की स्वतंत्रता-प्राप्ति से लेकर संविधान को लागू करने तक प्रान्तीय-शासन का जो स्वरूप सामने आया, उसको दृष्टिगत रखकर ही संविधान निर्माताओं ने राज्यपाल को केन्द्र-राज्यों को जोड़ने वाले 'सम्पर्क-सूत्र'के रूप में स्थान प्रदान किया।

महत्वपूर्ण सांविधानिक कड़ी

राज्यपालों को राज्यों में केन्द्रीय-सत्ता का प्रतीक माना जाता है। भारतीय संघ के राष्ट्रपति द्वारा उसकी नियुक्ति और बर्खास्तगी की प्रक्रिया ने उसे राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की तुलना में केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में अधिक प्रतिष्ठित किया है। भारतीय संविधान के विशेषज्ञों, टीकाकारों और समीक्षकों ने भी इसी तरह के विचार व्यक्त किये हैं। राज्यपाल को राष्ट्रपति की 'आँख और कान' कहा जाता है।[3] प्रो. के.वी. राव ने अपने लेख में लिखा है कि "आज जैसी उसकी स्थिति है, उसे केन्द्र द्वारा नियुक्त किया जाता है, और उसी के द्वारा हटाया जाता है। राज्यपाल वही है, जो केन्द्र उसे बनाना चाहता है।"[4] राज्यपालों की नियुक्ति और बर्खास्तगी के तरीके के कारण वे केन्द्रीय नेतृत्व के विरुद्ध आचरण नहीं कर सकते हैं। वे इस कारण बाध्य होकर राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष की अपेक्षा केन्द्रीय-निर्देशों का पालन करने वाले केन्द्रीय-प्रतिनिधि या अभिकर्त्ता अधिक प्रतीत होते हैं। जैसा कि डॉ. एस.सी.दास ने भी कहा है कि राज्यपाल उस राज्य का अध्यक्ष होने की अपेक्षा, जिसके भाग्य पर वह अध्यक्षता कर रहा है, संघ का दूत अधिक मात्रा में है।[5] डॉ. जे.सी. जोहरी ने इसे और अधिक स्पष्ट करते हुए लिखा है कि "कदाचित् यह कहना गलत नहीं होगा कि वह राज्य का संवैधानिक अध्यक्ष कम किन्तु केन्द्र का दूत अधिक मात्रा में है। इतना ही नहीं, वह केवल केन्द्र का दूत ही नहीं, उसका प्रभावशाली यंत्र भी है।"[6] डॉ. एन.एस. गहलोत की मान्यता है कि भारत में राज्यपाल की नियुक्ति की प्रचलित व्यवस्था उसे औपचारिक कार्यपालिका की भूमिका के निर्वाह करने हेतु विवश करती है।[7] प्रसिद्ध विद्वान और संविधान सभा के सदस्य प्रो. एन. जी. रंगा एवं संविधान समीक्षक एम. वी. पायली ने राज्यपाल को भारतीय संघीय व्यवस्था में "केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की सम्पर्क कड़ी" कहा है।[8] केन्द्र-राज्य सम्बन्धों पर विचार करने वाले प्रशासनिक सुधार आयोग ने राज्यपाल की द्वैध-भूमिका पर प्रकाश डालते हुए कहा था कि,"उसकी भूमिका की यह द्वैधता एक असामान्य लक्षण है। यह गलत होगा कि एक के मूल्य पर दूसरे की भूमिका पर अधिक ध्यान दिया जाये, उसकी भूमिका की सफलता इस बात पर निर्भर करती है कि दोनों ही भूमिका के क्षेत्र और सीमाओं की सही व्याख्या की जाये।"[9] डॉ.चन्द्रपाल ने लिखा है कि, "राज्यपाल की संविधान में द्वैध भूमिका है,

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की दृष्टि से इस पद का उल्लेखनीय महत्त्व है।"[10] भारतीय शासन और राजनीति के प्रसिद्ध विद्वान डॉ. इकबाल नारायण के मत में राष्ट्रपति द्वारा नियुक्त राज्यपाल, जो व्यवहार में केन्द्रीय सत्तारूढ़ दल द्वारा मनोनीत होता है।[11] भारतीय राजनीति के प्रसिद्ध लेखक डॉ. ओ. पी. गोयल ने भी 'केन्द्रीय अभिकर्त्ता' के रूप में राज्यपाल की भूमिका का सुन्दर विश्लेषण करते हुए लिखा है कि राज्यपाल केवल एक व्यक्ति ही नहीं, बल्कि एक संतुलनकारी संस्था है। एक संस्था के रूप में वह केन्द्राभिमुखी शक्ति (Centripetal Force) का प्रतिनिधित्व करता है।...... अगर राज्यपाल राज्य में केन्द्र का प्रतिनिधित्व करता है, तो वह केन्द्र में राज्य का भी प्रतिनिधित्व करता है। वह राष्ट्रपति को भेजे जाने वाले नियतकालिक प्रतिवेदनों, राष्ट्रपति से की जाने वाली मुलाकातों और राज्यपाल सम्मेलनों में ऐसा ही करता है। वही केन्द्र में राज्य सरकार की छवि (Image) बनाने का कार्य करता है। वह केन्द्रीय-स्तर पर राज्य की आवश्यकताओं और हितों के प्रति ध्यान आकृष्ट करता है।[12] इस तरह से राज्यपाल को केन्द्र तथा राज्यों के मध्य की विनियोजित कड़ी या मध्यस्थ के रूप में स्वीकार किया गया है। इस सम्बन्ध में यह उल्लेखनीय है कि राज्यपाल पद को धारण करने वाले अधिकांश राज्यपालों ने अपने को 'केन्द्रीय-अभिकर्त्ता' ही माना है। मैसूर के राज्यपाल के रूप में कार्य करने वाले स्व. वी.वी.गिरि ने उसे "राज्य-प्रशासन में केन्द्र का दूत" कहा है।[13] उड़ीसा और राजस्थान के राज्यपाल पद को सुशोभित करने वाले श्री जोगेन्द्रसिंह ने भी राज्यपाल को केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की कड़ी कहा है।[14] भूतपूर्व राज्यपालों की यह स्वीकारोक्ति इस संस्था के वास्तविक स्वरूप का यथार्थ विश्लेषण करने में सहायक बन सकती है। इससे यह भी पता चल सकता है कि इस पद को धारण करने वालों की मनःस्थिति क्या होती है।

केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास में भी राज्यपाल संस्था के औचित्य और इसकी महत्ता को अंगीकार किया गया है। संविधानवेत्ता के.एम. मुंशी की मान्यता में,"राज्यपाल संवैधानिक औचित्य का प्रहरी और वह कड़ी है, जो राज्य को केन्द्र के साथ जोड़ते हुए भारत की एकता के लक्ष्य को प्राप्त करती है।" डॉ. एम.वी.पायली के मत में राज्यपाल मंत्रिमंडल का सूझबूझ वाला परामर्शदाता है, जो राज्य की अशान्त राजनीति में शान्त वातावरण पैदा कर सकता है। प्रसिद्ध विधिवेत्ता एम.सी. सीतलवाड़ की अध्यक्षता में गठित प्रशासनिक सुधार आयोग के केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का अध्ययन करने वाले दल ने राज्यपाल की भूमिका को स्पष्ट करते हुए कहा था कि केन्द्रीय संस्था के रूप में यह देखना राज्यपाल का दायित्व है कि भारतीय राजनीतिक व्यवस्था में निहित संघीय सन्तुलन को न तो नष्ट किया जा सके, और न ही नुकसान पहुँचाया जाय।[15] देश की संघीय परिस्थितियों में राज्यपाल की भूमिका और भी महत्त्वपूर्ण बन जाती है। राज्यपाल के समक्ष राष्ट्रीय हितों और प्रादेशिक हितों में संतुलन बनाये रखने की कठिन चुनौती है।[16] ऐसी भूमिका राज्यपाल निष्पक्ष रहकर ही निर्वाह कर सकते हैं। राज्यपालों को न केवल निष्पक्षता से कार्य करना चाहिए, अपितु ऐसा दिखाना भी चाहिए।[17] 19-20 मार्च, 1976 को राज्यपाल सम्मेलन में बोलते हुए तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. श्रीमती इन्दिरा गाँधी ने कहा था कि संकीर्ण

प्रान्तीयतावाद पर विजय प्राप्त करने में राज्यपाल की महत्त्वपूर्ण भूमिका है।[18] केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के स्वस्थ विकास करने के लिए यह आवश्यक है कि राज्यपालों द्वारा स्थिति पर केवल परिमाणात्मक रूप में ही नहीं, बल्कि गुणात्मक रूप से भी विचार किया जाना चाहिए। संक्षेप में, केन्द्र-राज्य सम्बन्धों के विकास में राज्यपाल की बड़ी ही उद्देश्यपरक और सृजनात्मक भूमिका है।

संवैधानिक व्यवस्थाएँ

भारतीय संविधान में राज्यपाल को केन्द्रीय-प्रतिनिधि के रूप में विभिन्न दायित्व सौंपे गये हैं। केन्द्र का राज्यों पर प्रशासनिक नियंत्रण है, और उसे राज्यों को निर्देश देने की शक्ति प्राप्त है। यथार्थ में, राज्यपाल ही केन्द्र की इन शक्तियों का प्रयोग करता है। संविधान के अनुच्छेद 167 के अन्तर्गत राज्यपाल को राज्य के मुख्यमंत्री से मंत्रिमंडल द्वारा लिये गये निर्णयों की जानकारी प्राप्त करने का अधिकार है। वह मुख्यमंत्री से उन घटनाओं और तथ्यों की भी जानकारी प्राप्त कर सकता है, जिसकी जानकारी मुख्यमंत्री ने राज्यपाल को प्रदान नहीं की हो। राज्यपाल ही केन्द्रीय-निर्देशों से राज्य-मंत्रिमंडल को अवगत कराता है। साथ ही राज्यपाल ही केन्द्र को इस तथ्य की भी जानकारी देता है कि राज्य-मंत्रिमंडल ने केन्द्रीय निर्देशों का कहाँ तक पालन किया है। राज्यपाल द्वारा राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति, तथा राज्य-प्रशासन का ब्यौरा अपने प्रतिवेदन के माध्यम से केन्द्र को प्रेषित किया जाता है। नई दिल्ली में राज्यपाल द्वारा राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री और मंत्रियों के साथ की जाने वाली भेंट के समय उन्हें राज्य की नवीननम राजनैतिक और प्रशासनिक स्थिति से अवगत कराया जाता है। जून,1984 ई. को लिये गये एक निर्णय के अनुसार अब राज्यपालों के लिए राष्ट्रपति को भेजे जाने वाले पखवाड़े के प्रतिवेदन में राज्य की सम्पूर्ण घटनाओं और कार्यवाहियों की जानकारी प्रदान करनी पड़ती है। इस प्रतिवेदन की एक प्रति राज्यपाल द्वारा मुख्यमंत्री को दी जाती है। आवश्यकता पड़ने पर राज्यपाल अपना तदर्थ प्रतिवेदन भी राष्ट्रपति को भेज सकता है। इस तरह से केन्द्र के प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल राज्य-प्रशासन का विस्तृत लेखा-जोखा राष्ट्रपति को प्रेषित करता रहता है।

संविधान के अनुच्छेद 200 में केन्द्र को राज्यपाल के माध्यम से राज्य की व्यवस्थापन-प्रक्रिया पर अपना नियंत्रण स्थापित करने की शक्ति प्रदान की गई है। इसके अन्तर्गत राज्यपाल को राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित कुछ विधेयकों को राष्ट्रपति के पास विचारार्थ सुरक्षित रखने का अधिकार है। इम तरह के विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक होती है। अनुच्छेद 201 की व्यवस्था के अनुसार राष्ट्रपति ऐसे रोके गये विधेयकों के बारे में तीन प्रकार के निर्णय ले सकता है। प्रथम, वह विधेयक पर अपनी स्वीकृति प्रदान कर दे; द्वितीय, इस पर स्वीकृति देने से इन्कार कर दे; और तृतीय, विधानसभा में विधेयक पुनः विचार करने हेतु उसे लौटा दे। लेकिन यहाँ इस बात को ध्यान में रखा जाना चाहिए कि राष्ट्रपति के विचारार्थ रोके गये विधेयकों पर निर्णय लेने की समय-सीमा

निश्चित नहीं है। फलस्वरूप राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित अनेक विधेयकों पर राष्ट्रपति की स्वीकृति का प्रश्न अधर में झूलता रहता है। विधेयकों पर स्वीकृति नहीं होने पर अनेक बार उनका स्वरूप ही नष्ट हो जाता है। इस अनुच्छेद में राष्ट्रपति को राज्य सरकारों को निर्देश देने का भी अधिकार दिया गया है। इस प्रावधान ने भी राज्यपाल की स्थिति को महत्त्वपूर्ण बना दिया है। संविधान के अनुच्छेद 213 के अनुसार राज्य के राज्यपाल द्वारा जारी किये जाने वाले अध्यादेशों पर भी राष्ट्रपति की स्वीकृति आवश्यक है। संविधान के अनुच्छेद 257 में यह व्यवस्था की गई है कि राज्य की कार्यपालिका द्वारा अपनी शक्ति का प्रयोग करते समय केन्द्रीय सरकार के साथ तादात्म्य स्थापित करने का प्रयास किया जाये। उपर्युक्त प्रावधानों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य काल में भी राज्यपाल राज्य के संवैधानिक प्रधान के साथ-साथ केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका का निर्वाह करता है।

संविधान के आपातकालीन प्रावधानों का प्रयोग करते समय राज्यपाल की केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में भूमिका पूरी तरह से मुखरित हो उठती है। संविधान में तीन प्रकार से आपातकालीन प्रावधानों की व्यवस्था की गई है। प्रथम, संविधान के अनुच्छेद 352 के अन्तर्गत देश में बाह्य आक्रमण या आन्तरिक अशांति की संभावना की स्थिति में राष्ट्रपति द्वारा आपातकाल की घोषणा की जा सकती है। आपातकाल में केन्द्र की शक्तियाँ बहुत अधिक बढ़ जाती हैं, और संघीय व्यवस्था का स्वरूप एकात्मक बन जाता है। इस काल में राज्यपाल की संस्थागत स्थिति अत्यन्त शक्ति-सम्पन्न बन जाती है। बी.बी.कुलकर्णी ने उसे भारतीय संघीय व्यवस्था में महत्त्वपूर्ण एकात्मकता का लक्षण माना है। वह राज्य का वास्तविक अध्यक्ष भी बन जाता है। संविधान के अनुच्छेद 356 में राज्य में संवैधानिक-तंत्र की विफलता की स्थिति में राष्ट्रपति शासन लागू करने की व्यवस्था है। राज्यपाल ही राज्य में संवैधानिक-तंत्र की विफलता की स्थिति में राष्ट्रपति को प्रतिवेदन भेजता है। यह शक्ति राज्यपाल की भूमिका को बहुत शक्तिशाली बना देती है। अनेक मामलों में राज्यपालों ने इस शक्ति का खुलकर प्रयोग भी किया है। राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के बाद केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल राज्य का वास्तविक प्रशासक बन जाता है। इस समय वह राज्य का प्रशासन अपने सलाहकारों के माध्यम से करता है। राज्य-मंत्रिपरिषद् उसको सहायता और सलाह देने के लिए नहीं होती है। व्यवहार में, राज्यपाल, केन्द्रीय गृहमंत्रालय के निर्देशन पर कार्य करते हैं। राज्यपाल को प्रशासन में मदद देने हेतु केन्द्रीय सरकार द्वारा केन्द्रीय अधिकारियों अथवा राज्य के सेवानिवृत्त अधिकारियों की राज्यपाल के सलाहकार के रूप में भी नियुक्ति की जा सकती है। संविधान के अनुच्छेद 360 में वित्तीय आपातकाल की व्यवस्था की गई है। इस स्थिति में भी राज्यपाल का केन्द्रीय प्रतिनिधि का रूप ही ज्यादा उजागर होता है। इस तरह से आपातकाल के समय राज्यपाल केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में ही कार्य करता है। इन सब संवैधानिक उपबन्धों के अतिरिक्त राज्यपाल अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग करते समय भी केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका का ही निर्वाह करता है। इन अधिकारों में राज्यपाल

द्वारा मुख्यमंत्री की नियुक्ति, मंत्रिमंडलों की बर्खास्तगी और विधानसभा का सत्र बुलाना, सत्रावसान करना और विधानसभा का विघटन करना प्रमुख है। इन सब संवैधानिक प्रावधानों ने राज्यपाल की केन्द्र के प्रति अधिक उत्तरदायी भूमिका के निर्वाह करने की परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। इस तरह से सामान्य रूप से राज्यपाल उसी व्यक्ति (राष्ट्रपति) के प्रति उत्तरदायी है, जो उसकी नियुक्ति करता है, और जिसके पास उसे हटाने का अधिकार है।

केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल की भूमिका की अनेक आधारों पर आलोचना भी की गई है। अधिकांश कानूनविदों, और राजनीतिशास्त्रियों ने या तो राज्यपालों की केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका को स्वीकार नहीं किया, या इसकी अनेक आधारों पर आलोचना की है।[19] उनके मतानुसार, भारतीय संविधान और राजनीतिक व्यवस्था में राज्यपाल को नाममात्र की, और औपचारिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करना है। उनकी दृष्टि में "हमने हमारी शासन व्यवस्था का स्वरूप ब्रिटिश पद्धति के आधार पर निर्मित किया है . . . . .।" .[20] उनकी मान्यता है कि राज्यों में राज्यपालों की केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में भूमिका को स्वीकार करना संघ-विरोधी है। उनका विश्वास है कि भारतीय संघीय व्यवस्था संयुक्त-राज्य अमेरिका की संघीय व्यवस्था की तरह है . . . . . उनका विश्वास है कि संविधान में संशोधन किया जाना चाहिए और इस तरह की संस्थागत परिस्थितियाँ उत्पन्न की जानी चाहिए कि राज्यपाल केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में कार्य नहीं कर सके।[21] लेकिन भारतीय संविधान में निहित प्रावधानों के परिप्रेक्ष्य में राज्यपाल संस्था की आधारभूत-स्थिति में परिवर्तन करना संभव नहीं लगता है।

केन्द्रीय प्रतिनिधि के रूप में, राज्यपालों की भूमिका के आचरणगत पक्ष का विश्लेषण करने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि जहाँ राज्य सरकार और केन्द्रीय सरकार में संघर्ष की स्थिति नहीं थी, वहाँ राज्यपालों ने संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका में सन्तुलन बनाये रखा लेकिन जहाँ राज्य सरकार और केन्द्रीय सरकार में विरोध की स्थिति थी, वहाँ राज्यपालों ने अपनी केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका को ही प्राथमिकता प्रदान की। अनेक बार राज्यपालों को केन्द्रीय इच्छा के दबाव में विवादास्पद निर्णय लेने को भी बाध्य होना पड़ा है, जिनकी देश-व्यापी भर्त्सना हुई। न केवल कांग्रेस और कांग्रेस (इ) की सरकारों के कार्यकाल में, अपितु जनता लोकदल राष्ट्रीय मोर्चे और जनता दल (समाजवादी) की केन्द्रीय सरकारों के कार्यकाल में भी राज्यपालों ने केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका को ही तरजीह प्रदान की थी। अपवाद स्वरूप ही राज्यपालों ने स्वतंत्र निर्णय-शक्ति का परिचय देकर केन्द्रीय-इच्छाओं के आगे झुकना पसन्द नहीं किया। यहाँ यह भी वास्तविकता है कि केन्द्रीय सरकार की दृष्टि में ऐसे राज्यपाल कभी 'प्रिय' भी नहीं रहे। केन्द्रीय सरकार की इस मानसिकता से ही राज्यपाल की 'केन्द्रीय अभिकर्ता' की भूमिका सर्वोच्च बन गई।

देश की वर्तमान राजनीतिक परिस्थिति के रूप में राज्यपाल की भूमिका का महत्व और भी बढ़ जाता है। भाषावाद, साम्प्रदायिकता, प्रादेशिकता, आतंकवाद और राष्ट्र-विरोधी

तत्वों की प्रबल चुनौतियों ने देश की एकता और अखंडता के सम्मुख गंभीर संकट उपस्थित किया है। अतः केन्द्रीय-प्रतिनिधि के रूप में राज्यपाल के दायित्व और कर्त्तव्य बहुत अधिक बढ़ जाते हैं। राज्यपाल को संविधान और लोकतंत्र के सजग प्रहरी की भूमिका का निर्वाह करना होगा। उन्हें अधिक सजग, क्रियाशील और गतिशील रहकर, सभी स्तरों पर ऐसे व्यक्ति, संगठनों और राजनीतिक दलों पर कड़ी नजर रखकर उनको कुचलना होगा जो देश की एकता और अखंडता को नुकसान पहुँचाते हैं। ऐसे तत्त्वों के साथ किसी तरह से कोई समझौता नहीं किया जाना चाहिए। राज्यपाल को ऐसा करते समय पूर्ण निष्पक्षता से कार्य करना चाहिए।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि राज्यपाल की राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय-प्रतिनिधि की भूमिका में कोई अन्तर्विरोध की स्थिति नहीं है। दोनों ही एक दूसरे के पूरक है। दोनों की भूमिकाओं का लक्ष्य भारतीय संविधान की सुरक्षा और राज्य में स्थायित्व को बनाये रखना है। अतः आवश्यकता इस बात की है कि राज्यपाल अपनी इन दोनों भूमिकाओं में संतुलन इस कुशलता और दायित्व के साथ संजोए कि यह पद अनावश्यक विवाद, संघर्ष और तनाव की स्थिति से मुक्त रह सके। अगर राज्यपाल यह सन्तुलन स्थापित करने में सफल हो जाते हैं तो सारे विवादों का ही पटाक्षेप हो जायेगा।

संदर्भ

1. फड़िया, बाबूलाल एवं जैन श्रीपाल; भारतीय संघ व्यवस्था, (कैलाश पुस्तक सदन, ग्वालियर, 1982) पृष्ठ, 331
2. तत्रैव, एवं संविधान सभा वाद-विवाद, खंड 8, पृष्ठ, 431
3. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ, 336
4. राव, के. वी., पेपर आन "दि रोल ऑफ स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया", इन इण्डियन पॉलिटिकल साइन्स रिव्यू, दिल्ली, भाग 2, नं 3-4, (1968) पृष्ठ, 175
5. जोहरी, डॉ. जे.सी., भारतीय शासन और राजनीति, (विशाल पब्लिकेशन्स, नई दिल्ली, (1975) पृष्ठ, 204
6. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ, 216
7. गहलोत, डॉ. एन.एस., दि ऑफिस ऑफ दि गवर्नर - इट्स कास्टीट्यूशनल इमेज एण्ड रियलिटी (चुग पब्लिकेशन्स, इलाहाबाद, 1977) पृष्ठ, 193
8. तत्रैव।
9. दि रिपोर्ट ऑफ दी स्टडी टीम आन सेन्टर-स्टेट रिलेशन्स; भाग 1, 272 (1967)
10. चन्द्रपाल, डॉ.; स्टेट आटोनोमी इन इण्डिया; (दीप एण्ड दीप पब्लिशर्स, नई दिल्ली,1984) पृष्ठ, 137
11. नारायण, डॉ. इकबाल; द्वारा सम्पादित, भारतीय सरकार एवं राजनीति; (राजस्थान हिन्दी ग्रंथ अकादमी, जयपुर, 1974) पृष्ठ, 266
12. गोयल, ओ.पी., इण्डिया गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स; (लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979) पृष्ठ, 120-121

13. गहलोत, डॉ. एन.एस., उपर्युक्त ।
14. सिंह, जी.एन., दि रोल ऑफ स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया टुडे (इलाहबाद, किताब महल, 1968)पृष्ठ 17
15. गोयल, ओ.पी., उपर्युक्त ।
16. सरकार, आर.सी., स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया(नेशनल पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1984) पृष्ठ 62
17. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ 71
18. दि टाइम्स ऑफ इण्डिया, नई दिल्ली, मार्च 23.1976
19. गोयल, ओ.पी; इण्डिया गवर्नमेन्ट एण्ड पालिटिक्स; (लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979) पृष्ठ 118
20. तत्रैव ।
21. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ 119

अध्याय - 10

जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की भूमिका

भारतीय संविधान में राज्यपाल पद की संस्थागत स्थिति का विश्लेषण करते हुए जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की भूमिका का विश्लेषण करना अत्यावश्यक और सामयिक बन जाता है। जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विशेष दर्जा दिया गया है। अत: इस राज्य के राज्यपाल को भारतीय संघ के राज्यपालों की तुलना में विशेष भूमिका और शक्तियाँ प्राप्त हैं। सन् 1947 ई. के भारतीय स्वतंत्रता अधिनियम में अंग्रेजों ने भारत का विभाजन करते हुए, भारत और पाकिस्तान नाम से दो अलग स्वतंत्र राज्यों की स्थापना करने का मार्ग प्रशस्त किया। इसके अलावा उन्होंने देशी रियासतों को यह छूट भी दे दी थी कि वे चाहें तो अपना भारतीय संघ में अथवा पाकिस्तान में विलय कर दें। अधिकांश देशी रियासतों ने भारतीय संघ में शामिल होना स्वीकार कर लिया लेकिन जम्मू-कश्मीर राज्य के शासक श्री हरिसिंह की स्थिति बड़ी पशोपेश में थी। रियासत का यह शासक तो हिन्दू था, परन्तु प्रजा मुस्लिम थी। अत: पाकिस्तान का रियासत के शासक पर यह दबाव था कि वह अपनी रियासत का उसमें विलय कर दे। लेकिन श्री हरिसिंह ने पाकिस्तान के इस दबाव के आगे झुकना पसन्द नहीं किया। इस पर पाकिस्तान ने बलात् रूप से रियासत पर कब्जा करने की योजना बनाई। पाकिस्तान ने कबाइली सेना के माध्यम से रियासत पर आक्रमण कर दिया।[1] कबाइली बड़ी तेजी से श्रीनगर की तरफ बढ़ने लगे। इससे रियासत की स्थिति गंभीर बन गई। रियासत की सेना कबाइलियों की विशाल सेना का मुकाबला नहीं कर सकी। स्थिति को बिगड़ती देखकर रियासत के शासक हरिसिंह ने 26 अक्टूबर, 1947 को भारत सरकार से जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विलय करने का अनुरोध किया। 27 अक्टूबर, 1947 ई. को विलय की प्रक्रिया के पूरी होने के पश्चात् आक्रमणकारियों को खदेड़ने के लिए भारतीय सेना हवाई जहाजों से श्रीनगर पहुँची।[2] अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत[3] जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विशेष दर्जा प्रदान किया गया। संविधान के भाग 21 में राज्य के बारे में जो शीर्षक दिया गया है, वह है - "अस्थाई, संक्रमणकालीन और विशेष प्रावधान।"[4] (Temporary, Transitional and Special Provision)

भारत सरकार से न केवल महाराजा हरिसिंह ने ही, अपितु शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में राज्य के सबसे बड़े राजनीतिक संगठन नेशनल कांफ्रेंस ने भी राज्य का भारतीय

संघ में विलय करने की प्रार्थना की थी। भारतीय सेनाओं ने राज्य में तुरन्त कार्यवाही करके आक्रमणकारियों को बहुत पीछे धकेल दिया।

जम्मू-कश्मीर और भारतीय संघ के बीच के संवैधानिक सम्बन्धों के बारे में डॉ. दिनेशचन्द्र चतुर्वेदी ने लिखा है कि— भारतीय संविधान की केवल दो धाराएँ — धारा 1 और अनुच्छेद 370 ही जम्मू-कश्मीर पर लागू होती हैं। अनुच्छेद 1 में कहा गया है कि जम्मू-कश्मीर राज्य भारतीय संघ का एक भाग है। अनुच्छेद 370 में इस राज्य की विशिष्ट स्थिति को स्वीकार किया गया है, तथा यह कहा गया है कि संविधान के अन्य प्रावधानों को राष्ट्रपति ऐसे संशोधनों के साथ लागू कर सकेगा, जो राज्य की सरकार को मान्य हों।[5] इस तरह से जम्मू-कश्मीर राज्य को भारतीय संघ में विशिष्ट स्थान प्रदान किया गया है। समय-समय पर भारतीय संसद द्वारा पारित किये जाने वाले अधिनियमों के माध्यम से भी भारतीय संघ और इस राज्य के सम्बन्धों को स्पष्ट किया गया। 26 जनवरी, 1950 ई. को भारतीय राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये आदेश में जम्मू-कश्मीर राज्य के सम्बन्ध में भारतीय संसद की स्थिति को स्पष्ट किया गया।[6] इस तरह से क्रमिक रूप से ही भारतीय संसद का जम्मू-कश्मीर राज्य पर वर्चस्व स्थापित होता गया और भारतीय संघ तथा राज्य के सम्बन्ध स्पष्ट होते गये।

सन् 1948 ई. में जम्मू-कश्मीर के शासक महाराजा हरिसिंह ने नेशनल कांफ्रेंस के नेता मोहम्मद शेख अब्दुल्ला को अन्तरिम सरकार का प्रधानमंत्री नियुक्त किया। यह अन्तरिम सरकार महाराजा की 5 मार्च, 1948 की उद्घोषणा के कारण गठित की गई।[7] नेशनल कांफ्रेंस के अन्य प्रमुख नेताओं को मंत्रिमंडल में शामिल किया गया। यह मंत्रिमंडल सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त पर गठित किया गया। लेकिन महाराजा और नेशनल कांफ्रेंस के नेताओं के बीच शीघ्र ही मतभेद उपस्थित हो गये। इससे राज्य में सत्ता-संघर्ष प्रारम्भ हो गया। श्रीनगर में स्थिति लगातार बिगड़ती गई और कांफ्रेंस के नेताओं ने अत्यन्त कठोर शब्दों में महाराजा पर आक्षेप करते हुए उन्हें हटाने की माँग की।[8] प्रधानमंत्री मोहम्मद शेख अब्दुल्ला ने महाराजा के विरुद्ध अनेक आरोप लगाते हुए उन्हें हटाने की माँग की। महाराजा और नेशनल कांफ्रेंस के नेताओं के सम्बन्ध निरन्तर बिगड़ते गये। अन्त में, 29 अप्रैल, 1949 ई. को नई दिल्ली में स्थित अपने निवास स्थान पर सरदार पटेल ने महाराजा हरिसिंह और महारानी तारादेवी को उन्हें राज्य छोड़कर युवराज कर्णसिंह को शासन सौंपने की भारत सरकार की इच्छा से अवगत कराया।[9] महाराजा हरिसिंह ने शासक पद को त्याग दिया। उनके स्थान पर युवराज कर्णसिंह को राज्य का शासक बनाया गया।

सदरे-रियासत का पद

जम्मू-कश्मीर राज्य में राजनीतिक घटनाचक्र अत्यन्त तेजी से घटित हुआ। अक्टूबर, 1951 ई. में राज्य के लिए संविधान निर्माण करने हेतु संविधान सभा को बुलाने का निर्णय किया गया। वयस्क मताधिकार के आधार पर संविधान सभा का गठन किया गया।[10]

जम्मू-कश्मीर ही भारत का प्रथम राज्य है, जहाँ निर्वाचित संविधान सभा द्वारा संविधान का निर्माण किया गया। राज्य की इस संविधान सभा पर नेशनल कांफ्रेंस का पूर्ण वर्चस्व था। संविधान सभा के 75 में से 73 सदस्यों का सम्बन्ध नेशनल कांफ्रेंस से था। वे वास्तव में निर्विरोध रूप से संविधान सभा के सदस्य निर्वाचित हुए थे।[11] राज्य की संविधान सभा पर नेशनल कांफ्रेंस का प्रभुत्व होने से यह स्वाभाविक ही था कि यह इस दल के सिद्धान्तों के अनुरूप अपनी कार्यवाही का सम्पादन करती। दल 'वंशानुगत शासन' (Dynastic rule) को समाप्त करने के लिए कटिबद्ध था। अतः यह स्वाभाविक ही था कि राज्य से डोगरा-वंश के शासन को समाप्त करने के लिए संविधान सभा में विचार करने को प्राथमिकता दी जाती। 10 जून, 1952 ई. को संविधान सभा की आधारभूत सिद्धान्त निर्मात्री समिति ने अपने अन्तरिम प्रतिवेदन में डोगरा-शासन को समाप्त करने की सिफारिश की।

14 जुलाई, 1952 ई. में भारतीय संघ के प्रधानमंत्री और कश्मीरी नेताओं के बीच 'दिल्ली समझौता' संपन्न हुआ। इस समझौते में राष्ट्रीय हितों और राज्य के हितों में समन्वय स्थापित करने का प्रयत्न किया गया। समझौते में 'सदरे-रियासत' संस्था की संवैधानिक स्थिति को स्पष्ट किया गया। राज्य की संविधान सभा की सिफारिश पर नवम्बर, 1952 ई. में युवराज कर्णसिंह को राज्य का प्रथम 'सदरे-रियासत' बनाया गया। मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली अन्तरिम सरकार ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। सदरे-रियासत ने पुनः मोहम्मद शेख अब्दुल्ला को मंत्रिमंडल बनाने के लिए आमंत्रित किया।[12] इस तरह से सदरे-रियासत के नेतृत्व में जम्मू-कश्मीर में नई राजनीतिक व्यवस्था का सूत्रपात हुआ।

दिल्ली समझौते में राज्य के सदरे-रियासत की संवैधानिक स्थिति पर प्रकाश डाला गया। राज्य सरकार और भारत सरकार में इस बात के लिए सहमति हुई कि जम्मू-कश्मीर राज्य का प्रधान ऐसा व्यक्ति होगा, जिसे राज्य विधानसभा की सिफारिश पर राष्ट्रपति मान्यता प्रदान करेगा। वह राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त उसके उत्तराधिकारी की नियुक्ति होने तक, पाँच वर्ष की अवधि तक के लिए अपने पद पर बना रहेगा।[13] इस तरह से दिल्ली समझौते में संघीय नेताओं और राज्य के नेताओं के बीच राज्य के राजनैतिक प्रश्नों पर विचार-विमर्श किया गया। 11 अगस्त, 1952 ई. को जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री मोहम्मद शेख अब्दुल्ला ने दिल्ली समझौते को संविधान सभा में रखते हुए समझौते की शर्तों पर एक लम्बा वक्तव्य दिया।[14] जून, 1952 ई. के प्रस्तावों के अनुरूप संविधान सभा की प्रारूप-समिति ने 19 अगस्त, 1952 ई. को संविधान सभा में अपना प्रारूप प्रस्तुत किया। प्रारूप-समिति के प्रतिवेदन को संविधान सभा में सर्वसम्मति से स्वीकार कर लिया गया। इस प्रतिवेदन में निम्नलिखित बातें सम्मिलित थीं— प्रथम, राज्य के प्रधान को 'सदरे-रियासत' के पद से विभूषित किया जायेगा। द्वितीय, सदरे-रियासत को राज्य विधानसभा द्वारा निर्वाचित किया जायेगा और राष्ट्रपति द्वारा मान्यता प्रदान की जायेगी। तृतीय, सदरे-रियासत राष्ट्रपति के प्रसादपर्यन्त तक अपने पद पर बना रहेगा। पद पर बने रहने की अवधि की

यह शर्त पाँच वर्ष की होगी और सदरे-रियासत राज्य के शासक द्वारा प्रयोग में लाई जाने वाली शक्तियों का उपभोग करेगा।[15] इस प्रकार से प्रारूप-समिति के प्रतिवेदन में सदरे-रियासत संस्था के स्वरूप के बारे में मोटे तौर पर प्रकाश डाला गया।

अगस्त, 1952 ई. में राज्य की संविधान सभा ने एक संविधान-संशोधन पारित करके 1939 ई. के संविधान संशोधन अधिनियम (The Constitution Act of 1939) में संशोधन किया। प्रस्तावित संविधान-संशोधन में राज्य से वंशानुगत राजतंत्र संस्था को समाप्त कर दिया गया। राज्य के प्रधान को सदरे-रियासत का दर्जा प्रदान किया गया। राज्य और सरकार के क्षेत्र में आने वाले सभी अधिकार, सत्ता और क्षेत्राधिकार सदरे-रियासत में निहित कर दिये गये। सदरे-रियासत अपने कार्यों का संपादन मंत्रिपरिषद् की सहायता और सलाह से कर सकता था।[16] अधिनियम में सदरे-रियासत के पद को संवैधानिक दृष्टि से विश्लेषित किया गया। अधिनियम के अनुसार उसका निर्वाचन गुप्त मतदान प्रणाली समेत, एकल संक्रमणीय मत के द्वारा राज्य विधानसभा के सदस्यों द्वारा किये जाने की व्यवस्था की गई। यह भी व्यवस्था की गई थी कि राज्य का प्रधानमंत्री, विधानसभा द्वारा सदरे-रियासत के निर्वाचन की सूचना भारतीय संघ के राष्ट्रपति को दे। इसके बाद ही राष्ट्रपति द्वारा उसे सदरे-रियासत के रूप में मान्यता दी जाती थी। सदरे-रियासत की योग्यताओं का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया। इनमें उसके लिए राज्य का मूल निवासी होने, नामांकन-पत्र प्रस्तुत करते समय पच्चीस वर्ष की आयु को पूरा करने तथा जम्मू-कश्मीर संविधान सभा का सदस्य बनने जैसी अर्हताओं को पूरा करना आवश्यक था।

सदरे-रियासत को राज्य में संविधान की रक्षा का दायित्व भी सौंपा गया था। उसे पद ग्रहण करते समय यह शपथ लेनी पड़ती थी कि वह अपने को सदरे-रियासत के रूप में, राज्य की जनता की सेवा और कल्याण की दिशा में समर्पित रखेगा और राज्य के संविधान का रक्षण, अनुरक्षण और संरक्षण करेगा।[17] इस तरह से इस संविधान संशोधन अधिनियम ने राज्य में सदरे-रियासत जैसी महत्त्वपूर्ण संस्था को सांवैधानिक मान्यता प्रदान की।

जम्मू-कश्मीर राज्य की राजनीतिक स्थिति में परिवर्तन आते गये। भारत सरकार और नेशनल कांफ्रेंस के नेताओं के बीच राजनीतिक मतभेद बढ़ते गये, जिसकी परिणति राज्य के प्रधानमंत्री की बर्खास्तगी के रूप में हुई। 8 अगस्त, 1953 ई. को राज्य के सदरे-रियासत डॉ. कर्णसिंह ने प्रधानमंत्री मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस की सरकार को बर्खास्त कर दिया। 9 अगस्त, 1953 ई. को अपदस्थ प्रधानमंत्री को गिरफ्तार कर लिया गया। उसी दिन बर्खास्त मंत्रिपरिषद् के उपप्रधानमंत्री बख्शी गुलाम मोहम्मद को राज्य का नया प्रधानमंत्री नियुक्त किया गया। इस घटनाचक्र ने यह सिद्ध कर दिया कि देश के अन्य प्रान्तों के राज्यपालों की तरह ही जम्मू-कश्मीर के सदरे-रियासत की राज्य के प्रशासन का संचालन करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका थी। सन् 1954 ई. में राज्य की संविधान सभा ने राज्य का भारतीय संघ में अनुमोदन कर दिया।[18]

जम्मू-कश्मीर राज्य की संविधान सभा ने बड़ी तेजी से राज्य के संविधान का निर्माण करना प्रारम्भ कर दिया। 17 नवम्बर, 1956 ई. को राज्य की संविधान सभा ने प्रारूप-संविधान (Draft Constitution) को स्वीकार किया। 26 जनवरी, 1957 ई. को इस संविधान को लागू किया गया। प्रस्तावित संविधान में राज्य के लिए संसदीय शासन व्यवस्था के सिद्धान्त को अंगीकार किया गया। संसदीय शासन व्यवस्था के अनुरूप ही एक मंत्रिपरिषद् का प्रावधान किया गया जो सदरे-रियासत को सहायता और सलाह देने का कार्य करे। सदरे-रियासत को राज्य के अध्यक्ष का दर्जा प्रदान करते हुए यह व्यवस्था की गई कि "राज्य सरकार का प्रधान राज्य विधानसभा द्वारा निर्वाचित और राष्ट्रपति से मान्यता प्राप्त व्यक्ति होगा।" सदरे-रियासत की नियुक्ति, हटाने की प्रक्रिया, वेतन-भत्तों, समयावधि, शक्तियों और भूमिका की भी स्पष्ट व्याख्या की गई।

सदरे-रियासत के पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यताओं के बारे में यह कहा गया कि राज्य के स्थायी नागरिक के बिना किसी व्यक्ति को सदरे-रियासत पर नियुक्त नहीं किया जा सकता। उसकी आयु 25 वर्ष की हो, और वह राज्य विधानसभा के सदस्य के रूप में निर्वाचित होने की योग्यता रखता हो। सदरे-रियासत राज्य-विधानमंडल के किसी भी सदन का सदस्य नहीं हो सकता था। अगर विधानमंडल के किसी सदस्य का सदरे-रियासत के रूप में निर्वाचन हो तो उसे इस पद को ग्रहण करने से पूर्व सदन की सदस्यता से त्यागपत्र देना आवश्यक था। वह राज्य के किसी लाभ के पद को भी धारण नहीं कर सकता था।[19] सदरे-रियासत और भारत के अन्य राज्यपालों की नियुक्ति सम्बन्धी प्रक्रिया में स्पष्ट अन्तर दिखाई पड़ता था। देश के अन्य राज्यपालों की नियुक्ति राष्ट्रपति द्वारा की जाती है, न कि राज्य विधानमंडल द्वारा उनका निर्वाचन! इसके अलावा आयु सम्बन्धी अन्तर भी स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। भारत के अन्य राज्यों के राज्यपालों के लिए 35 वर्ष की आयु पूरी करना अनिवार्य था। अन्य राज्यों के राज्यपालों के लिए जिस राज्य में उनकी नियुक्ति की जाती है, उनका स्थायी निवासी होना आवश्यक नहीं था। अन्य व्यवस्थाएँ समान थीं। सदरे-रियासत, राष्ट्रपति की इच्छा-पर्यन्त तक ही अपने पद पर बना रह सकता था। उसकी कालावधि 5 वर्ष की थी। उसकी समायावधि के समाप्त होने के बाद भी वह अपने उत्तराधिकारी के पद ग्रहण करने की अवधि तक अपने पद पर बना रह सकता था। सदरे-रियासत के पद पर रहने वाला व्यक्ति पुनः निर्वाचित भी हो सकता था।[20] भारत के अन्य राज्यों के राज्यपाल भी राष्ट्रपति की इच्छापर्यन्त तक ही अपने पद पर बने रहते हैं, और उनकी कालावधि भी 5 वर्ष की है। उनकी पुनः नियुक्ति राष्ट्रपति पर ही निर्भर करती है लेकिन उनकी पुनः नियुक्ति पर कोई बंदिश नहीं है। जम्मू-कश्मीर के सदरे- रियासत को राज्य के संचित निधि कोष से ही वेतन-भत्ते और अन्य सुविधाएँ प्रदान करने की व्यवस्था का प्रावधान रखा गया। राज्य के प्रमुख के रूप में सदरे-रियासत पर राज्य में संविधान की रक्षा करने का दायित्व डाल दिया गया। उसे अपने पद को धारण करने के पूर्व राज्य की जनता की सेवा और कल्याण में रत रहने, तथा "राज्य के संविधान का रक्षण, अनुरक्षण और संरक्षण" करने की शपथ लेनी पड़ती थी।[21]

शक्तिशाली भूमिका

नवीन संविधान में सदरे-रियासत की भूमिका को शक्तिशाली स्थान प्रदान किया गया। उसे राज्य की कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, वित्तीय और आपातकालीन शक्तियाँ प्रदान की गईं। सदरे-रियासत की ये शक्तियाँ देश के अन्य प्रान्तों के राज्यपालों से अधिक प्रतीत होती थीं। उसे राज्य-कार्यपालिका का प्रधान बनाया गया। संविधान के खंड 42 के अन्तर्गत उसे कार्यपालिका सम्बन्धी शक्तियों का प्रयोग करने का अधिकार दिया गया। इसके अनुसार केन्द्र को हस्तान्तरित की जाने वाली शक्तियों को छोड़कर, राज्य की अन्य सभी प्रकार की शक्तियाँ उसमें निहित कर दी गईं । वह इन शक्तियों का प्रयोग स्वयं अपने नाम से अथवा अधिकारियों के नाम से कर सकता था।[22] उसे राज्य के प्रधानमंत्री को नियुक्त करने तथा उसकी सलाह पर मंत्रिपरिषद् के अन्य सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। उसे मंत्रियों में कार्यों का विभाजन करने और सरकारी-कार्यों का नियमन करने हेतु नियमों का निर्माण करने का अधिकार प्रदान किया गया। संविधान के खंड 128 के अन्तर्गत उसे राज्य लोकसेवा आयोग के अध्यक्ष और सदस्यों तथा महाधिवक्ता को नियुक्त करने का अधिकार प्राप्त था। इस तरह से राज्य की मुख्य कार्यपालिका के प्रधान के रूप में सदरे-रियासत को देश के अन्य राज्यपालों की तरह ही व्यापक शक्तियाँ प्रदान की गई थीं।

जहाँ तक सदरे-रियासत की व्यवस्थापन सम्बन्धी शक्तियों का प्रश्न है, उसे इस दिशा में व्यापक अधिकार प्रदान किये गये। वह राज्य-विधानमंडल का अभिन्न अंग था। उसे राज्य विधानसभा का सत्र बुलाने, सत्रावसान करने और विघटन करने की भी शक्ति प्राप्त थी। वह राज्य-विधानमंडल के प्रत्येक सदन या दोनों सदनों को सम्बोधित कर सकता था। उसे राज्य-विधानमंडल को संदेश भेजने की भी शक्ति प्राप्त थी। उसे राज्य-विधानपरिषद् में समाज के आर्थिक और सामाजिक दृष्टि से पिछड़े आठ ऐसे व्यक्तियों को मनोनीत करने का अधिकार प्राप्त था, जिन्हें कला, साहित्य, विज्ञान, सामाजिक सेवाओं और सहकारिता के क्षेत्र में विशेष ज्ञान और व्यवहारिक अनुभव प्राप्त हों।[23] विधानमंडल द्वारा पारित सभी विधेयकों पर उसकी स्वीकृति आवश्यक थी।[24] सदरे-रियासत को विधानमंडल के अवकाश के समय और तत्कालीन आवश्यकता को देखते हुए अध्यादेश जारी करने का अधिकार था।[25] इन अध्यादेशों का वही प्रभाव होता था, जैसा कि विधानमंडल द्वारा पारित कानूनों का।[26] इस प्रकार से सदरे-रियासत की व्यवस्थापिका सम्बन्धी भी महत्त्वपूर्ण भूमिका थी।

सदरे-रियासत को कतिपय वित्तीय शक्तियाँ भी प्रदान की गई थीं। उसी की अनुमति से राज्य का बजट विधानसभा में प्रस्तुत किया जाता था। उसकी सिफारिश के बिना किसी प्रकार के अनुदान की माँग को प्रस्तावित नहीं किया जा सकता था। उसी के द्वारा पूरक अनुदान और अतिरिक्त-व्यय सम्बन्धी वक्तव्य विधानसत्र में प्रस्तुत किया जाता था।[27] देश के अन्य राज्यों के राज्यपालों को भी इसी प्रकार की वित्तीय शक्तियाँ प्रदान की गई हैं।

सदरे-रियासत को न्यायिक शक्तियाँ भी प्रदान की गई थीं। उसे राज्य की कार्यपालिका शक्तियों के अन्तर्गत किसी भी कानून के विरुद्ध किये गये अपराध के लिए अपराधी व्यक्ति के दण्ड को क्षमा करने, प्रतिलम्बन करने और विराम अथवा कम करने की शक्ति प्राप्त थी।[28] देश के अन्य राज्यों के राज्यपालों को भी इसी प्रकार की न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गईं।

जम्मू-कश्मीर के संविधान में संसदीय सरकार के उत्तरदायित्व के सिद्धान्त को पूर्ण रूप से मान्यता प्रदान की गई थी।[29] संविधान में सदरे-रियासत को उसके कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और सलाह देने हेतु प्रधानमंत्री के नेतृत्व में एक मंत्रिपरिषद् का प्रावधान रखा गया।[30] जम्मू-कश्मीर के संविधान में सदरे-रियासत की शक्तियों पर पूर्ण नियंत्रण स्थापित करते हुए यह व्यवस्था की गई कि वह अपनी मंत्रिपरिषद् की सलाह से ही अपनी शक्तियों का प्रयोग करेगा।[31] औपचारिक रूप में सदरे-रियासत को ही प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् के सदस्यों को नियुक्त करने का अधिकार था, परन्तु व्यवहार में उनकी नियुक्ति दलीय आधार पर ही की जाती थी। विधानसभा में बहुमत दल के नेता को ही प्रधानमंत्री के रूप में नियुक्त किया जाता था। केवल प्रधानमंत्री और मंत्रिपरिषद् की नियुक्ति करने और राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा करने के लिए वह मंत्रिपरिषद् की सलाह मानने के लिए बाध्य नहीं था।[32]

इस तरह से सदरे-रियासत को भी विवेकाधिकार प्रदान किये गये थे। इस मामले में भारत के अन्य राज्यपालों की तुलना में जम्मू-कश्मीर के सदरे-रियासत की स्थिति अपेक्षाकृत कमजोर प्रतीत होती थी। लेकिन सदरे-रियासत भी राज्य-मंत्रिपरिषद् पर नियंत्रण स्थापित करने में सक्षम था। राज्य के संवैधानिक प्रधान के रूप में, उसे प्रशासन और व्यवस्थापन के क्षेत्र में राज्य मंत्रिपरिषद् द्वारा लिये गये सभी निर्णयों की सूचना प्राप्त करने का अधिकार था। वह मंत्रिपरिषद् से किसी भी प्रकार सूचना प्राप्त कर सकने का अधिकार रखता था। इतना ही नहीं, राज्य मंत्रिपरिषद् के सामूहिक उत्तरदायित्व के सिद्धान्त की रक्षा करने हेतु वह मंत्रियों द्वारा लिये गये निर्णयों को मंत्रिपरिषद् के विचार करने हेतु भेज सकता था।[33] इस प्रकार से सदरे-रियासत पर अनेक प्रकार की सीमाएँ आरोपित कर दी गईं, और वह अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का भी खुलकर प्रयोग करने की स्थिति में नहीं था।

एक मामले में सदरे-रियासत को जो शक्ति प्राप्त थी, वह भारत की किसी भी सरकार को प्रदान नहीं की गई थी।[34] सदरे-रियासत के रूप में उसे राज्य के संविधान द्वारा संवैधानिक-तंत्र की विफलता की स्थिति में आपातकाल की घोषणा करने का अधिकार प्राप्त था।[35] राज्य के संविधान के अनुसार सदरे-रियासत को सरकार और व्यवस्थापन के सभी अधिकार अपने हाथ में लेने का अधिकार था,अगर उसे यह प्रतीत हो जाये कि राज्य सरकार संविधान के अनुरूप कार्य नहीं कर रही है। आपातकाल में उसे संविधान को पूर्ण रूप से स्थगित करने अथवा इसके कुछ भाग को स्थगित करने का अधिकार प्राप्त था। लेकिन उसे न तो उच्च न्यायालय के अधिकारों को अपने हाथ में लेने और न ही उन्हें

स्थगित करने का ही अधिकार प्राप्त था। इसके साथ ही उसके लिए यह भी बाध्यता आरोपित कर दी गई कि वह आपातकाल की उद्घोषणा भारत के राष्ट्रपति की अनुमति प्राप्त करने के बाद ही करे। साधारणतः आपातकाल की यह उद्घोषणा घोषणा की तिथि से 6 महीनों के लिए प्रभावी रहती थी।[36] सदरे-रियासत द्वारा आपातकाल की उद्घोषणा में वृद्धि नहीं की जा सकती थी, परन्तु संवैधानिक तंत्र की विफलता को देखते हुए इसकी पुनः उद्घोषणा करने पर कोई प्रतिबन्ध नहीं था। प्रत्येक उद्घोषणा को सदन के आहूत करने पर दोनों सदनों के सम्मुख प्रस्तुत करना पड़ता था। आपातकाल में स्वयं सदरे-रियासत द्वारा बनाये गये कानून आपातकाल की समाप्ति के बाद भी दो वर्षों तक प्रभावी रहते थे।[37] इस प्रकार के आपातकाल के समय सदरे-रियासत राज्य का वास्तविक शासक बन जाता था।

सदरे-रियासत से राज्यपाल

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत जम्मू-कश्मीर राज्य की विशेष सांविधानिक स्थिति को बनाये रखते हुए भी भारतीय संविधान के अधिकांश प्रावधानों को राज्य पर लागू किया गया। भारतीय संघ के अन्य राज्यों में राज्यपाल और मुख्यमंत्री पद का प्रावधान था, अतः जम्मू-कश्मीर के प्रधानमंत्री और मुख्यमंत्री पद के नामकरण असंगत प्रतीत होते थे। इसी तथ्य को दृष्टिगत रखते हुए राज्य के संविधान में संशोधन किया गया। 10 अप्रैल, 1965 ई. को जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान में छठा संविधान-संशोधन प्रस्तावित किया गया। छठे संविधान संशोधन द्वारा सदरे-रियासत और प्रधानमंत्री के नामक्रम समाप्त कर दिये गये, और उनका स्थान क्रमशः राज्यपाल और मुख्यमंत्री ने ले लिया। राज्यपाल की नियुक्ति की प्रक्रिया को सरल बनाते हुए अब उसकी नियुक्ति सीधे भारत के राष्ट्रपति के हस्ताक्षरयुक्त और मुद्रासहित अधिपत्र द्वारा की जाने लगी।[38] राष्ट्रपति द्वारा प्रत्यक्ष नियुक्ति के प्रावधान ने राज्य के राज्यपाल को भी देश के अन्य राज्यों के राज्यपालों के समकक्ष ला दिया। भारत सरकार का राज्य के मामलों पर प्रभावी हस्तक्षेप हो गया। राज्य का राज्यपाल पद भी इससे अछूता नहीं रहा। यहाँ यह उल्लेखनीय है कि राज्यपाल की नियुक्ति की शक्ति भारत के राष्ट्रपति में निहित कर दी गई। यथार्थ में, राज्यपाल की नियुक्ति भारतीय प्रधानमंत्री द्वारा गृहमंत्रालय की सलाह द्वारा की जाती है। यह भी परम्परा विकसित हुई है कि संघीय सरकार राज्यपाल की नियुक्ति करते समय राज्य के मुख्यमंत्री से सलाह लेती है। सन्1967 ई. में भगवानसहाय को राज्य के मुख्यमंत्री श्री गुलाम मोहम्मद सादिक से सलाह लेकर ही राज्यपाल पद पर नियुक्त किया गया।[39] लेकिन इस प्रश्न का उठना स्वाभाविक ही है कि क्या राज्यपाल की नियुक्ति करते समय संघ सरकार का राज्य सरकार से परामर्श करना अनिवार्य है? या राज्य सरकार से सलाह मात्र औपचारिक रूप से ही ली जाती है? अथवा दलीय समीकरणों के परिवर्तन होने के साथ ही राज्यपाल की नियुक्ति के तरीके में परिवर्तन आ जाता है? इन सब प्रश्नों के उत्तर के बारे में यही कहा जा सकता है कि यह संघीय सरकार का विशेषाधिकार-सा बन

गया है कि वह राज्यपाल की नियुक्ति करते समय औपचारिक रूप से सलाह ले अथवा नहीं ले। अगर वह राज्य सरकार से सलाह लेती भी है तो वह केवल औपचारिक ही होती है, उस सलाह को मानना संघीय सरकार के लिए आवश्यक नहीं है। उदाहरणार्थ, 1981 ई. में श्री बी.के. नेहरू को राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त करते समय संघीय सरकार ने राज्य सरकार से औपचारिक रूप से सलाह ली, तो अप्रैल, 1984 ई. में संघीय सरकार ने डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस की सरकार से परामर्श किये बिना ही श्री जगमोहन को राज्यपाल पद पर नियुक्त कर दिया। अतः यह कहा जा सकता है कि जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल की नियुक्ति का तरीका भी देश के अन्य राज्यपालों के समान ही हो गया है। दलीय समीकरणों का इस बारे में हाथ रहा है। सन् 1975 ई. तक संघीय सरकार और जम्मू-कश्मीर में कार्यरत राज्य सरकारों के सम्बन्ध मधुर रहे। इसीलिए संघीय सरकार ने सर्वश्री भगवानसहाय और प्रसिद्ध अर्थशास्त्री एल. के. झा की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति करते समय राज्य सरकारों से परामर्श करने की परम्परा को बरकरार रखा। सन् 1977 ई. के बाद से जम्मू-कश्मीर राज्य की सरकारों और केन्द्र में प्रतिष्ठित सरकारों में दलीय सम्बन्ध अधिक मधुर नहीं रहे। सन् 1977 ई. में श्री मोरारजी देसाई के नेतृत्व वाली जनता पार्टी और स्व.शेख मोहम्मद अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस ने एक दूसरे के विरुद्ध राज्य विधानसभा का चुनाव लड़ा। अतः दोनों सरकारों में सम्बन्ध अपेक्षाकृत मधुर नहीं रह सके। सन् 1980 ई. में केन्द्र में श्रीमती इन्दिरा गाँधी के नेतृत्व में कांग्रेस (इ) की सरकार सत्तारूढ़ हुई। स्व. शेख मोहम्मद अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस और राज्य कांग्रेस के नेताओं में सम्बन्ध अच्छे नहीं रहे। उनके देहावसान के बाद उनके सुपुत्र डॉ. फारूख अब्दुल्ला राज्य के नये मुख्यमंत्री बने। डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने राष्ट्रीय राजनीति में केन्द्र के नेतृत्व वाली कांग्रेस(इ) की सरकार के विरुद्ध गैर-कांग्रेसी दलों का साथ दिया। इससे केन्द्र की कांग्रेस (इ) सरकार और जम्मू-कश्मीर राज्य की नेशनल कांफ्रेंस की सरकार में टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो गयी। फलस्वरूप संघीय सरकार द्वारा राज्यपालों की नियुक्ति करते समय राज्य सरकार से परामर्श करने की परम्परा का परित्याग कर दिया गया।

इस परम्परा का विकास करने हेतु कि राज्य में राज्यपाल पद पर राज्य के बाहर के व्यक्ति की नियुक्ति की जाये, जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान में संशोधन करना अपरिहार्य बन गया। अतः सदरे-रियासत से सम्बन्धित प्रावधानों में संशोधन किया गया। सन् 1965 ई. में पारित छठे संविधान संशोधन के माध्यम से यह व्यवस्था की गई कि जब तक महाराजा कर्णसिंह सदरे-रियासत का कार्यकाल पूरा नहीं कर लेंगे, तब तक वे ही राज्य के राज्यपाल का कार्य देखेंगे। सन् 1967 में श्री कर्णसिंह ने अपना कार्यकाल पूरा कर लिया। इसके बाद जम्मू-कश्मीर में राज्य से बाहर के व्यक्तियों को राज्यपाल नियुक्त किया गया। वर्तमान में जनरल के. वी. कृष्णाराव राज्य के राज्यपाल हैं। इस प्रकार से राज्य के राज्यपाल की नियुक्ति के प्रावधान देश के अन्य राज्यों के राज्यपालों के समान ही हैं।

जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल की समयावधि और हटाने का तरीका भी देश के अन्य राज्यपालों की तरह ही है। वह भारत के राष्ट्रपति की 'इच्छापर्यन्त' तक पाँच वर्ष तक अपने पद पर बना रह सकता है। राष्ट्रपति के द्वारा उसे इसके पूर्व भी बर्खास्त किया जा सकता है। राज्यपाल स्वयं त्यागपत्र देकर भी अपने पद से अलग हो सकता है।

जम्मू-कश्मीर राज्य के राज्यपाल के वेतन-भत्तों का उल्लेख राज्य के संविधान के द्वितीय परिशिष्ट में किया गया है। उसके कार्यकाल की अवधि में उसके वेतन-भत्तों को कम नहीं किया जा सकता है। उसको भारत के अन्य राज्यों के राज्यपालों की तरह ही विशेषाधिकार और उन्मुक्तियाँ प्रदान की गई हैं । भारतीय संविधान के अनुच्छेद 361 के अन्तर्गत यह व्यवस्था की गई है।

जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान में राज्यपाल पद पर नियुक्त होने वाले व्यक्ति की योग्यताओं का भी स्पष्ट रूप से उल्लेख किया गया है। इसके अनुसार भारत का वह नागरिक जिसने 30 वर्ष की आयु पूरी कर ली हो, राज्यपाल पद पर नियुक्त किया जा सकेगा। राज्य-विधानमंडल के किसी भी सदस्य को इस पद पर नियुक्त नहीं किया जा सकता है। इस पद पर नियुक्त किये जाने के पूर्व अगर वह राज्य-विधानमंडल का सदस्य हो तो उसे पद ग्रहण करने के पूर्व ही अपने पद से त्यागपत्र देना पड़ता है।[40] राज्यपाल लाभ का पद भी धारण नहीं कर सकता है। भारत के अन्य राज्यों के राज्यपालों के लिए भी ये ही योग्यताएँ निर्धारित की गई हैं।

जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल को भी भारतीय संघ के अन्य राज्यों की तरह ही राज्य उच्च न्यायालय के मुख्य न्यायाधीश अथवा किसी न्यायाधीश से राज्य में संविधान का "रक्षण, संरक्षण और अनुरक्षण" करने और राज्य की जनता की सेवा और कल्याण में समर्पित रहने की शपथ लेनी पड़ती है। वह राज्य में संविधान का रक्षक है। उसका यह भी दायित्व है कि वह इस बात को देखे कि राज्य का प्रशासन संविधान के अनुरूप संचालित हो रहा है, अथवा नहीं ?

राज्यपाल राज्य सरकार का गठन करता है। राज्य के कार्यपालिका सम्बन्धी अधिकारों का प्रयोग वह स्वयं या अपने अधीनस्थ अधिकारियों के माध्यम से करता है। उसकी कार्यकारी सत्ता का विस्तार भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 और 1954 ई. के जम्मू-कश्मीर राज्य पर लागू होने वाले संवैधानिक आदेश तक है। उसे भारतीय संघ के अन्य राज्यों के राज्यपालों की तरह ही कार्यपालिका, व्यवस्थापिका, वित्तीय और न्यायिक शक्तियाँ प्रदान की गई हैं। उसकी ये शक्तियाँ, सदरे-रियासत को प्राप्त शक्तियों के समान ही हैं। राज्यपाल को उसके कार्यों का सम्पादन करने में सहायता और सलाह देने के लिए एक मंत्रिपरिषद् का प्रावधान रखा गया है। जम्मू-कश्मीर राज्य के संविधान के अनुसार राज्य के राज्यपाल पर मंत्रिपरिषद् की सलाह के अनुसार कार्य करने की बाध्यता आरोपित की गई है। इससे राज्य के राज्यपाल की स्थिति नाममात्र और कम गरिमामय संवैधानिक अध्यक्ष की बन जाती है।[41] लेकिन राज्यपाल की स्थिति का यह सही मूल्यांकन

नहीं है। उसे अनेक स्व-विवेकीय शक्तियाँ भी प्राप्त हैं । राज्य के मुख्यमंत्री की नियुक्ति और बर्खास्तगी, राज्य मंत्रिपरिषद् से प्रशासन और व्यवस्थापन-सम्बन्धी सूचनाएँ प्राप्त करने, राज्य-विधानमंडल द्वारा पारित विधेयकों पर हस्ताक्षर करने से इन्कार करने और उन्हें पुनर्विचार करने हेतु राज्य-विधानमंडल को लौटाने या भारत के राष्ट्रपति के विचारार्थ सुरक्षित रखने, संविधान संशोधनों पर स्वीकृति प्रदान करने, राज्य में संवैधानिक तंत्र की विफलता की घोषणा करने, और इसके पश्चात् भारतीय संविधान के अनुच्छेद 356 के अन्तर्गत कार्यवाही करने जैसी स्व-विवेकीय शक्तियाँ प्राप्त हैं। इस तरह से राज्य के राज्यपाल को संविधान में जो अधिकार प्रदान किये गये हैं, उसके आधार पर उसके शक्तिशाली स्वरूप के विकास की भी पर्याप्त संभावना बनी हुई है।

संघीय सरकार और जम्मू-कश्मीर सरकार के बीच हुए समझौतों ने भी राज्यपाल संस्था के बारे में अनेक नवीन व्यवस्थाओं को जोड़ दिया। 24 फरवरी,1975 ई. को संघीय सरकार और राज्य के प्रमुख राजनीतिक दल — नेशनल कांफ्रेंस के नेता मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के बीच संपन्न हुए ऐतिहासिक समझौते में राज्यपाल पद के बारे में विभिन्न प्रावधान निश्चित किये गये।[42] समझौते में "राज्य के संविधान में 'राज्यपाल' और 'मुख्यमंत्री' शब्दों को सम्मिलित किया गया है, उसमें राज्य का विधानमंडल संशोधन कर सकता है, वह चाहे तो मुख्यमंत्री के स्थान पर 'वजीरे आजम' शब्द को रख सकता है।"[43] समझौते में कश्मीर के भारतीय संघ में विलय को अपरिवर्तनीय रूप से स्वीकार करते हुए, इस बात को स्वीकार किया गया कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के आधार पर ही संघ और राज्य के सम्बन्धों का निरूपण होगा। अवशिष्ट शक्तियाँ राज्य के पास रहेंगी। भारतीय संसद को भारत की एकता और अखंडता की रक्षा करने और पृथकतावादी शक्तियों के विरुद्ध कानून बनाने का अधिकार होगा। समझौते में यह भी व्यवस्था की गई कि संविधान के अनुच्छेद 356 को, जिसमें संकट-काल में राज्य में राष्ट्रपति के शासन का प्रावधान है, कश्मीर पर भी लागू किया जा सकेगा।[44] इस तरह से राष्ट्रपति के अधिकार को राज्य में भी विस्तृत किया गया। समझौते में यह भी उल्लेख किया गया था कि राज्य विधानसभा द्वारा राज्यपाल पद के बारे में राष्ट्रपति की अनुमति मिलने के पूर्व कोई परिवर्तन नहीं किया जा सकेगा।[45] समझौते में नेशनल कांफ्रेंस के नेता मोहम्मद शेख अब्दुल्ला को राज्य के मुख्यमंत्री के रूप में प्रतिष्ठित करने की व्यवस्था थी। समझौते को लागू करने के लिए तत्कालीन कांग्रेसी मुख्यमंत्री सैय्यद मीर कासिम ने अपने पद से त्यागपत्र दे दिया। मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के नेतृत्व में कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस के मिले-जुले मंत्रिमंडल को शपथ दिलाई गई।

जहाँ तक राज्य के राज्यपालों के आचरणगत स्वरूप का प्रश्न है, सन् 1975 ई. से 1982 ई. तक राज्यपालों और मुख्यमंत्रियों के बीच सम्बन्ध मधुर बने रहे। सन् 1977 में जम्मू-कश्मीर में एक राजनैतिक संकट उपस्थित हो गया। कांग्रेस और नेशनल कांफ्रेंस में राजनैतिक मतभेद उपस्थित हो गया। कांग्रेस ने शेख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द करके स्वयं सरकार बनाने का दावा प्रस्तुत किया। इस पर मुख्यमंत्री मोहम्मद

शेख अब्दुल्ला ने राज्यपाल से विधानसभा को भंग करके नये चुनाव कराने की सिफारिश की। राज्यपाल श्री एल. के. झा ने मुख्यमंत्री की सिफारिश पर विधानसभा को भंग कर दिया। मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के मंत्रिमंडल और राज्यपाल श्री एल.के. झा के बीच सम्बन्ध ठीक बने रहे। शेख अब्दुल्ला के देहावसान के साथ जम्मू-कश्मीर की राजनीति का एक अध्याय समाप्त हो गया।

सितम्बर, 1982 ई. में मोहम्मद शेख अब्दुल्ला के देहावसान के बाद उनके पुत्र डॉ.फारूख अब्दुल्ला को तत्कालीन राज्यपाल बी.के. नेहरू द्वारा शपथ दिलायी गई। सामान्यतः इस काल में राज्यपाल बी.के. नेहरू और डॉ. फारूख अब्दुल्ला के मंत्रिमंडल के बीच सम्बन्ध ठीक रहे। लेकिन इस काल में राज्यपाल और फारूख मंत्रिमंडल के बीच कश्मीर पुनर्वास अधिनियम (Resettlement Bill) को लेकर कटुतापूर्ण सम्बन्ध बने। राज्यपाल ने अपनी व्यवस्थापन- शक्ति का सहारा लेते हुए इस विधेयक पर अपनी स्वीकृति नहीं देकर इसे पुनर्विचार करने हेतु विधानसभा को लौटा दिया। डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाले मंत्रिमंडल ने राज्यपाल के इस कदम की कड़ी आलोचना की।[46] इस घटना को छोड़कर राज्यपाल और राज्य-मंत्रिमंडल के सम्बन्ध ठीक ही रहे।

राज्यपाल जगमोहन और डॉ. फारूख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल के बीच प्रारम्भ से ही तनावपूर्ण स्थिति उत्पन्न हो गई। संघीय सरकार द्वारा जगमोहन को राज्य में राज्यपाल नियुक्त करते समय मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं किये जाने के निर्णय से भी नेशनल कांफ्रेंस-मंत्रिमंडल क्षुब्ध था। फारूख अब्दुल्ला-मंत्रिमंडल में शीघ्र ही यह भावना घर कर गई कि संघीय सरकार राज्यपाल के माध्यम से नेशनल कांफ्रेंस-मंत्रिमंडल को अपदस्थ करना चाहती है। शीघ्र ही राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् के बीच टकराहट की स्थिति उत्पन्न हो गई। 2 जुलाई, 1984 ई. को डॉ. फारूख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल के वरिष्ठ सदस्य और उनके बहनोई गुल मोहम्मद शाह के नेतृत्व में 12 सदस्यों ने दलीय-विद्रोह करते हुए, डॉ. फारूख अब्दुल्ला के मंत्रिमंडल को समर्थन देना बन्द कर दिया। इस पर मुख्यमंत्री ने राज्यपाल जगमोहन से राज्य विधानसभा को भंग करके नये चुनाव कराने की माँग की। राज्यपाल ने मुख्यमंत्री की राय को मानने से इन्कार करते हुए डॉ. फारूख अब्दुल्ला के मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर दिया। इसके बाद उन्होंने गुल मोहम्मद शाह के नेतृत्व में नये मंत्रिमंडल को शपथ दिलायी। राज्यपाल जगमोहन के इस निर्णय की राज्य में व्यापक प्रतिक्रिया हुई और राज्य के अनेक स्थानों पर हिंसक घटनाएँ घटित हुईं। देश के 19 गैर-कांग्रेसी विपक्षी दलों ने राज्यपाल के निर्णय को 'लोकतंत्र-विरोधी' बताते हुए देशव्यापी प्रदर्शन किये। विरोधी दलों ने तत्कालीन राष्ट्रपति ज्ञानी जैलसिंह को ज्ञापन देकर जगमोहन को बर्खास्त करने की माँग की। संसद और देश के अनेक राज्यों की विधानसभाओं में भी राज्यपाल जगमोहन की कार्यवाही की भर्त्सना की गई। गुल मोहम्मद शाह की सरकार को कांग्रेस (इ) का समर्थन प्राप्त था। कांग्रेस (इ) ने शाह-मंत्रिमंडल में शामिल नहीं होकर बाहर रहकर ही इसका समर्थन किया। लेकिन समय बीतने के साथ-साथ मुख्यमंत्री और कांग्रेस (इ) के सम्बन्ध खराब होते गये। 6 मार्च, 1986 ई. को कांग्रेस (इ) ने गुल मोहम्मद

शाह की सरकार को समर्थन देना बन्द कर दिया। इस पर 7 मार्च, 1986 को राज्यपाल जगमोहन ने 20 मास पुरानी गुल मोहम्मद शाह की सरकार को बर्खास्त कर दिया। राज्यपाल द्वारा विधानसभा को निलम्बित करके राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू कर दिया गया। राज्यपाल के इस निर्णय की गुल मोहम्मद शाह ने कड़ी आलोचना की। कांग्रेस (इ), देश के राष्ट्रीय विपक्षी दलों और डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस ने राज्यपाल की कार्यवाही का स्वागत किया।

राज्य में राष्ट्रपति शासन लागू होने के साथ ही राज्य का प्रशासन संचालित करने में राज्यपाल की भूमिका सर्वोपरि बन गई। दिनांक 9 मार्च, 1986 ई. को केन्द्रीय सरकार ने जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन को राज्य में साम्प्रदायिक और आतंकवादी तत्त्वों का कठोरतापूर्वक दमन करने के लिए पूर्ण अधिकार प्रदान करते हुए उन्हें राज्य में सामान्य स्थिति को कायम करने और पुनः राज्य को आर्थिक विकास के मार्ग पर अग्रसर करने हेतु सभी राजनीतिक दलों से सहयोग करने का निर्देश दिया।[47] राज्यपाल ने राज्य में कानून और व्यवस्था की स्थिति को सुधारने, राज्य प्रशासन का मनोबल बढ़ाने, राज्य में साम्प्रदायिक सौहार्द्रपूर्ण वातावरण को बनाने, और लोककल्याणकारी योजनाओं को क्रियान्वित करने की दिशा में भगीरथ प्रयत्न किये। राज्यपाल के प्रयत्नों से राज्य की स्थिति में उल्लेखनीय सुधार हुआ। लेकिन विपक्षी दलों ने राष्ट्रपति-शासन के दौरान राज्यपाल की भूमिका की कड़ी आलोचना की। 14 अप्रैल, 1986 ई. को श्रीनगर में आयोजित पत्रकार सम्मेलन में बोलते हुए पीपुल्स कांफ्रेंस के अध्यक्ष अब्दुल गनी लोन ने कहा कि जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन राज्यपाल शासन के दौरान अवांछित नीतिगत फैसले लेकर राज्य की विशेष स्थिति के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। श्री लोन ने कहा कि जगमोहन ने अपनी संवैधानिक जिम्मेदारियों का निर्वाह करते वक्त जो सीमाएँ तोड़ीं, उनसे गंभीर और चिन्ताजनक षड्यन्त्र की स्थिति बन गई है। जम्मू और कश्मीर का संविधान 'केन्द्र सरकार के मात्र एक कर्मचारी' को राज्य की जनता के भाग्य का फैसला करने और अपनी आकांक्षाएँ व सनकें पूरा करने की इजाजत नहीं देता। उन्होंने राज्य विधानसभा को निलंबित किया जबकि राज्य के संविधान में उसे एकदम भंग किए जाने की व्यवस्था है। इससे यह सिद्ध होता है कि वे राज्य में कानून का दुरुपयोग कर रहे हैं। उन्होंने पूरे वित्त वर्ष का बजट भी पास कर दिया जबकि समझा जाता है कि उन्हें केवल छह माह का बजट पास करने का अधिकार है। श्री लोन ने राज्यपाल के इन कदमों की आलोचना की— उन्होंने 11 बड़े इंजीनियरों और दूसरे बड़े अधिकारियों को क्यों रिटायर किया, उन्होंने मनमाने कानून बनाए और कानूनी-भर्ती अधिकारियों की नियुक्ति की। श्री लोन की राय में इन कामों को करने का अधिकार केवल विधानसभा को दिया गया है। उन्होंने कहा कि कैसा मजाक है कि जिन अधिकारों का इस्तेमाल एक निर्वाचित व्यक्ति, सदरे-रियासत को करना चाहिए, उनका प्रयोग नई दिल्ली से भेजा एक सरकारी कर्मचारी संविधान के खिलाफ अंधाधुंध कर रहा है। उन्होंने कहा कि केन्द्र सरकार ने जनता द्वारा निर्वाचित फारुख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल को बर्खास्त कर जी.एम.शाह को बैठाया, बाद में उसे हटा दिया

और विधानसभा निलंबित कर दी। इससे पता चलता है कि केन्द्र सरकार कश्मीर के संदर्भ में किसी संवैधानिक, राजनैतिक और नैतिक सिद्धान्त से नहीं बंधी है।[48] 20 अप्रैल, 1986 को जम्मू में संवाददाताओं से बातचीत करते हुए भाजपा के अध्यक्ष श्री लालकृष्ण आडवाणी ने कहा कि जी.एम.शाह सरकार की बर्खास्तगी के बाद उम्मीद थी कि फरवरी का दंगा कराने वालों को पकड़ा जाएगा, लेकिन अफसोस की बात यह है कि राज्यपाल ने इस बारे में कतई चिन्ता नहीं की। उन्होंने कहा कि जगमोहन तो उस डल झील की सफाई और झुग्गी-झोंपड़ियों में रहने वाले हजारों लोगों को उजाड़ कर जम्मू व श्रीनगर की सड़कों को सुन्दर बनाने को तरजीह दे रहे हैं। श्री आडवाणी ने कहा कि गड़बड़ी के बाद मुअत्तिल किये गये अनंतनाग के पुलिस उपायुक्त को जगमोहन ने जांच कराए बिना बहाल कर दिया। गड़बड़ी के बाद गिरफ्तार किए गए शाह गुट, फारूख गुट, इंका और जमायते इस्लामी के लोगों को राज्यपाल ने रिहा कर दिया। श्री आडवाणी ने कहा कि राज्यपाल के इन फैसलों से कश्मीर घाटी के हिन्दू नाराज हैं।[49] राष्ट्रपति-शासन के दौरान राज्यपाल ने प्रशासन का संचालन करने हेतु राज्य से बाहर के लोगों को सलाहकार के रूप में नियुक्त किया। केन्द्र द्वारा प्रदत्त विशेष अधिकारों का प्रयोग करने और प्रशासन को सक्रिय करने के लिए पहल करने के कारण राज्यपाल की भूमिका आलोचना का पात्र बनी। लेकिन राज्यपाल के पक्ष में यह बात निर्विवाद रूप से कही जा सकती है कि राष्ट्रपति-शासन के समय राष्ट्र-विरोधी और पृथकतावादी गतिविधियों पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित हुआ, कश्मीर-घाटी के अल्पसंख्यकों में पुनः विश्वास अर्जित हुआ, तथा दंगा-पीड़ित लोगों का पुनर्वास हुआ। लेकिन राज्यपाल की कुछ कार्रवाइयों ने कश्मीर के प्रभावशाली गुटों को नाराज कर दिया — जैसे चिकित्सक और चोर-बाजारी करने वाले बड़े व्यापारी। उन्होने सरकारी चिकित्सकों की निजी प्रैक्टिस पर रोक लगायी थी। राज्य में 90 प्रतिशत चिकित्सक सरकारी मुलाजिम हैं। इसी तरह व्यापारियों के एक वर्ग पर छापे डाले गये। कश्मीर दशकों से आयकर चोरी का स्वर्ग रहा है। इन वर्गों के गुस्से का उपयोग कट्टरपंथी दलों और गुटों ने खुलकर किया। वैष्णवदेवी के सरकारीकरण से डॉक्टर कर्णसिंह भी नाराज हुए। दरअसल जगमोहन की कार्यशैली का यह तरीका जाना-पहचाना रहा है। उन्होंने स्थानीय नेताओं को विश्वास में लिये बिना ही अहम् फैसले किये। नतीजा यह हुआ कि उन्हें राजनैतिक समर्थन तो मिला नहीं, कट्टरपंथियों को रोकने के मामले में भी राजनैतिक दल उदासीन बने रहे।[50] इस तरह से राष्ट्रपति शासन के समय राज्यपाल ने ऐसे कदम उठाये, जिनसे राज्य के राजनैतिक दलों में खलबली मच गयी।

जम्मू-कश्मीर राज्य में कांग्रेस (इ) और डॉ. फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व वाली नेशनल कांफ्रेंस के बीच आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति चलती रही। डॉ. अब्दुल्ला राष्ट्रीय स्तर पर भी विपक्षी दलों का साथ देते रहे। इसी बीच प्रदेश में पृथकतावादी, राष्ट्रविरोधी, कट्टरपंथी, साम्प्रदायिक और आतंकवादी शक्तियों ने देश की एकता और अखंडता के सम्मुख संकट खड़ा कर दिया। इस स्थिति ने धर्मनिरपेक्ष और लोकतांत्रिक शक्तियों को यह सोचने के लिए विवश कर दिया कि उन्हें राष्ट्रीय हितों में संगठित होकर ही इन

ताकतों का मुकाबला करना होगा। इसके अलावा गुल मोहम्मद शाह की सरकार के पतन के बाद केन्द्र के सामने सिर्फ दो ही रास्ते थे। या तो जम्मू-कश्मीर विधानसभा भंग कर नए चुनाव कराए जाएँ या फिर डॉ. फारूख अब्दुल्ला को पुनः मुख्यमंत्री बनाया जाए। केन्द्र ने दूसरा विकल्प ही अधिक उपयुक्त समझा। तत्कालीन प्रधानमंत्री स्व. राजीव गाँधी और डॉ.फारूख अब्दुल्ला के बीच संपन्न हुए समझौते ने राज्य में लोकप्रिय सरकार के गठन का मार्ग प्रशस्त किया। प्रस्तावित समझौते के अन्तर्गत डॉ.फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस (इ) के मिले-जुले मंत्रिमंडल के गठन करने की शर्त थी। दिनांक 6 नवम्बर,1986 को राज्य के राज्यपाल जगमोहन ने डॉ. फारूख अब्दुल्ला को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलायी। इसके बाद डॉ.फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में 10 सदस्यीय मंत्रिमंडल को शपथ दिलायी गई। इसमें 6 मंत्री नेशनल कांफ्रेंस और 4 मंत्री कांग्रेस (इ) के थे। दिनांक 8 नवम्बर, 86 को जम्मू-कश्मीर के राज्यपाल जगमोहन ने फारूख मंत्रिमंडल की सिफारिश पर राज्य विधानसभा को भंग कर मार्च, 1987 में नये चुनाव संपन्न कराने का निर्णय लेते हुए डॉ.फारूख अब्दुल्ला मंत्रिमंडल को नई व्यवस्था होने तक अपने पद पर बने रहने का अनुरोध किया। देश के विपक्षी दलों ने राज्यपाल के निर्णय की आलोचना करते हुए इसे लोकतांत्रिक परम्पराओं के प्रतिकूल बताया। मार्च, 1987 में जम्मू-कश्मीर विधानसभा के चुनाव संपन्न हुए। इसमें डॉ.फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस (इ) के गठबंधन ने मिलकर चुनाव लड़ा। कश्मीर घाटी में यूनाइटेड मुस्लिम फ्रन्ट और जम्मू क्षेत्र में भारतीय जनता पार्टी इस गठबंधन के मुख्य प्रतिद्वंद्वी दल थे। लेकिन चुनाव परिणाम नेशनल कांफ्रेंस-कांग्रेस (इ) गठबंधन के पक्ष में रहे। इसे राज्य विधानसभा में दो-तिहाई से भी अधिक बहुमत प्राप्त हुआ। इस गठबंधन में भी नेशनल कांफ्रेंस ने अकेले ही बहुमत प्राप्त कर लिया। लेकिन डॉ.फारूख अब्दुल्ला के नेतृत्व में नेशनल कांफ्रेंस और कांग्रेस (इ) का गठबंधन सत्ता में भी साझेदार बना। 26 मार्च, 1987 ई. को डॉ. फारूख अब्दुल्ला सर्वसम्मति से नेशनल कांफ्रेंस विधायक दल के नेता चुने गये। इस पर राज्य के राज्यपाल जगमोहन ने डॉ.फारूख अब्दुल्ला को राज्य में सरकार बनाने के लिए आमंत्रित किया।26 मार्च, 1987 ई. को जम्मू में आयोजित समारोह में राज्यपाल ने डॉ. अब्दुल्ला एवं उनके आठ मंत्रियों को पद और गोपनीयता की शपथ दिलाई। मुख्यमंत्री को छोड़कर उस दिन शपथ लेने वाले सभी मंत्री कांग्रेस (इ) के थे।[51] 27मार्च, 1987 को जम्मू-कश्मीर मंत्रिमंडल में ग्यारह और मंत्री शामिल किये गये। मंत्रिमंडल में आज शामिल होने वाले सभी मंत्री नेशनल कांफ्रेंस के थे।[52] इस गठबंधन में नेशनल कांफ्रेंस की प्रभुत्वपूर्ण स्थिति थी। डॉ. फारूख अब्दुल्ला एक शक्तिशाली मुख्यमंत्री के रूप में उभर कर सामने आये। इस बीच राज्य के राज्यपाल पद में परिवर्तन हुआ। श्री जगमोहन के स्थान पर जनरल के.वी.कृष्णाराव को राज्यपाल नियुक्त किया गया। राज्यपाल के.वी. कृष्णाराव और मुख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला के बीच सम्बन्ध सौहार्द्रपूर्ण बने रहे।

सन् 1989 में केन्द्र में सत्ता परिवर्तन हुआ। श्री विश्वनाथप्रतापसिंह के नेतृत्व में राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार सत्तारूढ़ हुई। इस सरकार ने जगमोहन को राज्य का राज्यपाल

नियुक्त किया। इसके विरोध में डॉ.फारूख अब्दुल्ला ने अपने मंत्रिमंडल का त्यागपत्र दे दिया। मुख्यमंत्री का आरोप था कि केन्द्र ने राज्यपाल पद पर जगमोहन को नियुक्त करते समय उनसे सलाह-मशविरा नहीं किया था। अतः मुख्यमंत्री डॉ. फारूख अब्दुल्ला ने अपने मंत्रिमंडल का त्यागपत्र निवर्तमान राज्यपाल जनरल के.वी.कृष्णाराव को सौंप दिया। राज्यपाल ने वैकल्पिक व्यवस्था होने तक डॉ. फारूख अब्दुल्ला से अपने पद पर बने रहने को कहा, जिसे उन्होंने अस्वीकार कर दिया। इस पर राज्यपाल ने राष्ट्रपति को भेजे अपने संदेश में राज्य में राज्यपाल शासन लागू करने की सिफारिश की। श्री जगमोहन ने राज्य का कार्यभार संभालते ही राज्य में राज्यपाल शासन लागू करने तथा राज्य विधानसभा को निलम्बित करने की घोषणा की। 18 जनवरी, 1990 को ऐसा निर्णय लिया गया। तब से लेकर अब तक राज्य में राष्ट्रपति शासन चल रहा है। इस बीच राष्ट्रीय मोर्चे की सरकार ने जगमोहन को राज्यपाल पद से हटा दिया। उनके स्थान पर गिरीशचन्द्र सक्सेना की नियुक्ति की गई। श्री नरसिंहराव के नेतृत्व वाली केन्द्र सरकार ने उन्हें हटाकर पुनः जनरल के.वी.कृष्णाराव को नियुक्त किया। वर्तमान में जनरल के.वी.कृष्णाराव राज्यपाल पद पर कार्य कर रहे हैं।

अन्त में, निष्कर्ष रूप में यही कहा जा सकता है कि भारतीय संविधान के अनुच्छेद 370 के अन्तर्गत जम्मू-कश्मीर राज्य को जो विशेष दर्जा प्रदान किया गया है, वह भी बना हुआ है। केन्द्र में सत्तारूढ़ सभी दलों की सरकारों ने इसे कायम रखा है। लेकिन समय-समय पर किये गये संवैधानिक-संशोधनों ने भारतीय संविधान के अनेक प्रावधानों को इस राज्य में भी लागू किया है। इससे राज्य के राज्यपाल की स्थिति भी प्रभावित हुई है। वर्तमान में, कतिपय प्रावधानों को छोड़कर उसकी स्थिति भारतीय संघ के अन्य राज्यों के राज्यपालों के समान ही है। राज्यपाल जगमोहन ने दो मुख्यमंत्रियों को बर्खास्त करके यह स्पष्ट संकेत दे दिया है कि इस राज्य का राज्यपाल भी केन्द्रीय-प्रतिनिधि के रूप में अपनी भूमिका को प्रभावशाली तरीके से निर्वाह कर सकता है।

संदर्भ

1. कौल भट्ट, रामकृष्ण; पॉलिटिकल एण्ड कांस्टीट्यूशनल डवलपमेन्ट ऑफ दी जम्मू एण्ड कश्मीर (सीमा पब्लिकेशन्स, दिल्ली, 1984) पृष्ठ 159-161
2. तेंग, मोहनकृष्ण; स्टेट गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स : जम्मू एण्ड कश्मीर; (स्टर्लिंग पब्लिशर्स प्रायवेट लिमिटेड, नई दिल्ली, 1985), पृष्ठ 1
3. कौल भट्ट; रामकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ 193
4. बॉम्बवाल; के.आर, नेशनल पावर एण्ड स्टेट आटोनोमी (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977), पृष्ठ 167
5. चतुर्वेदी; डॉ. दिनेशचन्द्र; भारतीय शासन और राजनीति; (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ 1981),पृष्ठ 206
6. बॉम्बवाल, के.आर; उपर्युक्त, पृष्ठ 168-169
7. तेंग, मोहनकृष्ण,उपर्युक्त,पृष्ट, 10

8. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ 11
9. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ 16
10. बॉम्बवाल; के.आर, उपर्युक्त।
11. कौल सतीश, कौल भट्ट रामकृष्ण, तैंग मोहनकृष्ण, कश्मीर कांस्टीट्यूशनल हिस्ट्री एण्ड डॉक्यूमेन्ट, (लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1977), पृष्ठ, 197
12. भट्ट; प्रो. रूपकृष्ण; कश्मीर दी पॉलिटिक्स ऑफ इन्टीग्रेशन, इन इकबाल नारायण द्वारा सम्पादित, स्टेट पॉलिटिक्स इन इण्डिया, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1976), पृष्ठ, 47
13. पार्लियामेन्टरी डिबेट्स, काउन्सिल ऑफ स्टेट्स, वोल्यूम 1, न. 31, अगस्त 5, 1952, कालम 2994
14. तैंग, मोहनकृष्ण उपर्युक्त, पृष्ठ, 33
15. तत्रैव, पृष्ठ, 33-34
16. कांस्टीट्यूशन अमेन्डमेन्ट एक्ट, 1952, सेक्सन, 4
17. कौल सतीश, कौल भट्ट रामकृष्ण तैंग, मोहनकृष्ण, उपर्युक्त, पृष्ठ, 202
18. बाम्बवाल, के.आर, उपर्युक्त, पृष्ठ, 173
19. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 82
20. तत्रैव, उपर्युक्त, पृष्ठ, 82-83
21. कौल भट्ट; रामकिशन; उपर्युक्त, पृष्ठ, 206
22. कौल, सतीश, कौल भट्ट रामकिशन; तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 211
23. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 84
24. कौल भट्ट, रामकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 206
25. जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान, खंड 91
26. तत्रैव,
27. कौल भट्ट; रामकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 207
28. कौल सतीश; कौल भट्ट रामकिशन; तैंग मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 213
29. कौल भट्ट; रामकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 207
30. जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान, खंड 35
31. तत्रैव, खंड 35 (2)
32. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 84
33. जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान, खंड 44
34. कौल भट्ट रामकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 208
35. जम्मू-कश्मीर का संविधान, खंड 44
36. कौल सतीश; कौल भट्ट रामकृष्ण; तैंग मोहन कृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 213
37. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 85
38. बाम्बबवाल; के.आर.; उपर्युक्त, पृष्ठ, 172, एवं जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान, खंड 27
39. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 85
40. जम्मू-कश्मीर राज्य का संविधान, खंड 29

41. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 90
42. बाम्बवाल; के.आर; उपर्युक्त, पृष्ठ, 172
43. डॉ. परमात्माशरण; भारतीय शासन और राजनीति; (रस्तोगी पब्लिकेशन्स, मेरठ, 1983),पृष्ठ, 330
44. चतुर्वेदी; डॉ. दिनेशचन्द्र; उपर्युक्त, पृष्ठ, 208
45. बाम्बवाल; के.आर; उपर्युक्त, पृष्ठ, 179
46. तैंग, मोहनकृष्ण; उपर्युक्त, पृष्ठ, 95
47. हिन्दुस्तान टाइम्स; नई दिल्ली, मार्च10, 1986,पृष्ठ, 1
48. जनसत्ता, नई दिल्ली, अप्रैल, 16,1986, पृष्ठ, 2
49. तत्रैव, अप्रैल, 22, 1986, पृष्ठ, 3
50. कौल, जवाहरलाल; फिर आये फारूख अब्दुल्ला, दिनमान; नई दिल्ली , नवम्बर ,9-15 , 1986, पृष्ठ, 13
51. नवभारत टाइम्स, जयपुर, मार्च 27, 1987, पृष्ठ, 1
52. तत्रैव, मार्च 28, 1987, पृष्ठ, 1

अध्याय - 11

नेहरू-युग

सन् 1967 ई. के चतुर्थ आम चुनावों के पूर्व राज्यपाल संस्था के आचरणगत पक्ष का विश्लेषण करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि कतिपय अपवादों को छोड़कर यह संस्था सार्वजनिक विवादों से मुक्त रही । संविधान-विशेषज्ञों और राजनीतिक समीक्षकों का यदा-कदा ही इस संस्था की तरफ ध्यान आकृष्ट हुआ। इस काल में राज्यपाल पद को एक 'औपचारिक पद' माना जाता रहा। सन् 1950 ई. से सन् 1967 ई. तक के राज्यपालों की कार्यपद्धति पर 'नेहरू-युग की राजनीति' का स्पष्ट प्रभाव देखा जा सकता है। नेहरू-युग की राजनीतिक शैली और अवधारणा ने इस संस्था के प्रत्येक प्रक्रियागत पहलू को प्रभावित किया। सरदार वल्लभभाई पटेल के देहावसान के बाद भारतीय राजनीतिक व्यवस्था पर पंडित जवाहरलाल नेहरू के व्यक्तित्व का करिश्मा पूरी तरह से स्थापित हो गया। देश की सारी संवैधानिक संस्थाओं की चमक-दमक नेहरू के व्यक्तित्व के आगे फीकी पड़ गई। इतना ही नहीं देश का विपक्ष भी नेहरू के व्यक्तित्व से अप्रभावित नहीं रह सका। उसकी सारी रणनीति 'नेहरू-विरोध' तक सीमित हो गयी। भारत की संघात्मक व्यवस्था भी इससे मुक्त नहीं रह सकी, और सहज रूप में ही इस पर एकात्मक-प्रवृत्तियाँ हावी होती गईं। केन्द्र की शक्तियाँ अत्यन्त शक्तिशाली और विस्तृत होती गईं, और राज्यों की स्थिति गौण बन गई। नेहरू की स्थिति 'उच्च-मुख्यमंत्री' की सी बन गई। राज्यों के सभी मुख्यमंत्रियों की संस्थागत स्थिति नेहरू के 'करिश्मावादी-नेतृत्व' से आच्छादित हो गई। केन्द्र-राज्य सम्बन्धों का निपटारा दलीय-स्तर पर या व्यक्तिगत स्तर पर होने लगा। नेहरू के नेतृत्व में केन्द्र में, और (कतिपय अपवादों को छोड़कर) सभी राज्यों में कांग्रेस दल की सरकारें सत्तारूढ़ थीं। अतः सत्ता पर कांग्रेस का एकाधिकार था। देश का साधारण व्यक्ति भी नेहरू के व्यक्तित्व से 'सम्मोहित' था। जैसा कि के.आर. बाम्बवाल ने लिखा है कि भारत में घटित होने वाली घटनाएँ पंडित नेहरू के करिश्मावादी नेतृत्व से बहुत हद तक प्रभावित हुईं। सभी राज्यों के नेताओं में उनके प्रति अगाध सम्मान था। उन्हें उनके नेतृत्व में अगाध विश्वास था, और वे चाहते हुए भी उनके द्वारा लिये गये निर्णयों के प्रति किसी प्रकार का विरोध-प्रदर्शित नहीं कर पाते थे। कामराज योजना को जिसमें अनेक मुख्यमंत्रियों को पद-त्याग करना पड़ा, नेहरू के नेतृत्व के कारण ही शांत रूप से

स्वीकार कर लिया गया।[1] राज्यों के मुख्यमंत्रियों में उनके नेतृत्व को चुनौती देने का साहस नहीं था। लगभग सभी राज्यों में कांग्रेस दल की सरकारों के सत्तारूढ़ होने के कारण उत्पन्न राजनैतिक स्थिति पर टिप्पणी करते हुए श्री सी.एस.पंडित ने लिखा है कि विगत बीस वर्षों में कांग्रेस के सभी राज्यों में सत्ता में होने के कारण केन्द्र की भूमिका पितृ-सत्तात्मक (Patriarch) बन गई, जो दलीय मुख्यमंत्रियों के माध्यम से सहायक इकाइयों का संचालन और नियंत्रण करने लगा। जो भी विवाद उपस्थित होते, उनका दलीय स्तर पर ही समाधान खोज लिया जाता।[2] निस्संदेह, केन्द्र और राज्यों पर नेहरू का एकछत्र-नेतृत्व कायम होने से देश के राजनैतिक स्वरूप पर भारी प्रभाव पड़ा। जैसा कि प्रसिद्ध विधिवेत्ता के. संथानम् ने भी स्वीकार किया है कि शीर्ष का नेतृत्व शक्तिशाली है, तथा राज्यों का नेतृत्व व्यक्तित्व और पद की दृष्टि से दूसरी श्रेणी का है।[3] राज्यों में निर्वाचनों के समय उम्मीदवारों का चयन करने, मुख्यमंत्रियों की नियुक्ति करने, मंत्रिमंडलों का गठन करने, मंत्रियों के विभागों में परिवर्तन करने, उन्हें त्यागपत्र देने के लिए कहने, मंत्रिमंडल में नई नियुक्तियाँ करने, मुख्यमंत्रियों को अपदस्थ करने तथा नये मुख्यमंत्रियों को पद-स्थापित करने में केन्द्रीय नेतृत्व ही निर्णय लेता था। फलस्वरूप राज्य सरकारों का स्तर और महत्त्व कमजोर हो गया। जब नेहरू के व्यक्तित्व से सारी संवैधानिक और राजनीतिक स्थिति प्रभावित हुई तो राज्यपाल कैसे अप्रभावित रह सकते थे। इस राजनैतिक पर्यावरण में वे अपनी संविधान-सम्मत भूमिका के अक्षरशः निर्वाह करने की स्थिति में नहीं रहे। राज्यपालों की कार्यशैली पर भी नेहरू-युग का स्पष्ट प्रभाव परिलक्षित होता है।

इस काल में राज्यपालों की कार्य-शैली को प्रभावित करने में जिस दूसरे महत्त्वपूर्ण तत्त्व का योगदान रहा, वह था राज्यों के प्रभावशाली नेताओं की मुख्यमंत्रियों के रूप में नियुक्ति। स्वतंत्रता-प्राप्ति के बाद कांग्रेस के प्रभावशाली प्रादेशिक नेताओं ने मुख्यमंत्री पद संभाल लिया। इन नेताओं का व्यक्तित्व, स्तर और प्रभाव अपने राज्यों के राज्यपालों की तुलना में कहीं अधिक उच्च था। अतः राज्यों के राज्यपाल इन पर प्रभावी नियंत्रण स्थापित करने की स्थिति में नहीं थे। ये मुख्यमंत्री राष्ट्रीय-राजनीति में भी प्रभावशाली स्थान रखते थे। इनमें से प्रमुख थे उत्तरप्रदेश में पंडित गोविन्दवल्लभ पंत और चन्द्रभानु गुप्ता, मध्यप्रदेश में पंडित रविशंकर शुक्ल और द्वारिकाप्रसाद मिश्र, पंजाब में सरदार प्रतापसिंह कैरों, गुजरात में बलवन्तराय मेहता, महाराष्ट्र में श्री मोरारजी देसाई, यशवन्तराव चव्हाण और वसन्तराव नाईक, पश्चिमी बंगाल में, विधानचन्द्र राय एवं प्रफुल्लचन्द्र सेन, उड़ीसा में डॉ. हरिकृष्ण मेहताब एवं बीजू पटनायक, बिहार में श्रीकृष्ण सिन्हा, मद्रास में चक्रवर्ती राजगोपालाचारी एवं कामराज नाडार, केरल में ई.एम.एस. नम्बूद्रीपाद, असम में विमलप्रसाद चालिहा, और राजस्थान में मोहनलाल सुखाड़िया। ये सब अपने प्रदेशों के राज्यपालों से अधिक क्षमता वाले लोग थे। इस कारण से भी राज्यपाल अपनी शक्तिशाली भूमिका का निर्वाह नहीं कर सके। यह भी वास्तविकता ही है कि इस काल में कांग्रेस की द्वितीय-पंक्ति के नेताओं को ही राज्यपालों के रूप में नियुक्त किया जाता रहा।

फलस्वरूप प्रथम-पंक्ति के कांग्रेसी नेताओं द्वारा उनका वर्चस्व स्वीकार नहीं करना अस्वाभाविक नहीं था।

तृतीय, कांग्रेस के केन्द्रीय-नेतृत्व और प्रधानमंत्री नेहरू द्वारा भी राज्यपालों की तुलना में राज्यों के मुख्यमंत्रियों की राय को ही अधिक महत्त्व प्रदान किया गया। इन मुख्यमंत्रियों का केन्द्रीय नेतृत्व से प्रत्यक्ष संपर्क था। फलतः मुख्यमंत्री राज्यपालों की उपेक्षा करने लगे। मुख्यमंत्रियों की इस मनोवृत्ति से क्षुब्ध होकर जब कुछ राज्यपालों ने प्रधानमंत्री पंडित नेहरू से मुख्यमंत्रियों के व्यवहार की शिकायत की तो उन्होंने भी मुख्यमंत्रियों के पक्ष का समर्थन करते हुए कहा कि राज्यपालों को मुख्यमंत्रियों के विरुद्ध शिकायत नहीं करनी चाहिए थी। प्रधानमंत्री और केन्द्रीय नेतृत्व के इस दृष्टिकोण ने भी राज्यपालों की स्थिति को कमजोर कर दिया।

चतुर्थ, राज्यों और केन्द्र में एकदलीय सरकारों के युग ने देश में राजनीतिक स्थिरता को जन्म दिया। इस स्थिति में राज्यपालों के पास अपनी भूमिका के खुलकर उपयोग करने की गुंजायश ही समाप्त हो गई। संवैधानिक और राजनीतिक संकटों से मुक्त राजनीतिक व्यवस्था के दौर में राज्यपाल राज्य के मात्र औपचारिक अध्यक्ष की भूमिका का निर्वाह करने तक ही अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझने लग गये। केन्द्र और राज्यों में एकदलीय सरकारों के युग ने राज्यपालों के महत्त्व को बहुत कम कर दिया। राज्यपालों की राजनीतिक पहल करने और स्वतंत्र रूप से निर्णय लेने की शक्ति सीमित हो गई। अगर यह स्थिर राजनीतिक स्थिति नहीं होती तो संभवतया राज्यपाल अधिक शक्तिशाली रूप से कार्य करने की स्थिति में होते। इसी तथ्य पर प्रकाश डालते हुए 9 अक्टूबर, 1969 ई. को भूतपूर्व राज्यपाल श्री धर्मवीर ने एक पत्रकार सम्मेलन को संबोधित करते हुए कहा था कि,"स्वतंत्रता के उपरान्त प्रारम्भिक काल में, जबकि सम्पूर्ण देश में एक दल की स्थायी सरकारें थीं, राज्यपाल के दायित्व केवल एक संवैधानिक अध्यक्ष के थे।"[4] इस काल में उनके स्व-विवेकीय अधिकारों के प्रयोग के अवसर भी बहुत कम आये। राज्य सरकारों के निर्माण करने में कोई कठिनाई नहीं आई।

पंचम्, राज्यपालों का चयन मात्र उनकी योग्यता के मापदण्ड का आधार मानकर ही नहीं किया गया, अपितु ऐसा दलीय आधार पर किया गया। सत्तारूढ़ दल द्वारा अपने ही दल के नेताओं अथवा अपने दल के प्रति निष्ठा रखने वाले व्यक्तियों को ही इस पद पर नियुक्त किया जाता रहा। फलस्वरूप ये लोग अपनी भूमिका का निर्वाह करते समय वांछित नेतृत्व का ठीक तरह से प्रदर्शन करने और प्रादेशिक राजनीति की बागडोर को अपने हाथ में रखने में सफल नहीं हो सके। इससे भी इनकी संस्थागत स्थिति कमजोर हो गई। इसके अलावा राज्यपालों में 'समझौतावादी' दृष्टिकोण का विकास हुआ

षष्ठम्, स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद भारत के राष्ट्रपतियों ने देश में राजनीतिक स्थायित्व को दृष्टिगत रखते हुए संवैधानिक अध्यक्ष की भूमिका तक ही अपने को सीमित कर लिया। डॉ. राजेन्द्रप्रसाद और डॉ. सर्वपल्ली राधाकृष्णन जैसे राष्ट्रीय-स्तर के व्यक्तित्वों ने

भी प्रधानमंत्री संस्था के साथ संघर्ष की स्थिति या टकराहट की नीति का सहारा नहीं लिया। देश की लोकतांत्रिक व्यवस्था की स्थिरता और सुदृढ़ता के लिए उन्होंने समन्वय और सहयोग की नीति को अपनाया। परिणामस्वरूप, धीरे-धीरे प्रधानमंत्री पद का 'राष्ट्रपतीयकरण' हो गया। प्रधानमंत्री की संस्थागत स्थिति सर्वोच्च बन गई। अनेक बार राष्ट्रपतियों ने अपनी भावना के प्रतिकूल होने के बावजूद भी प्रधानमंत्रियों द्वारा लिये गये निर्णयों को स्वीकृति प्रदान कर दी। इस प्रकार से देश में यह मान्यता सी बन गई कि जिस तरह से केन्द्र में राष्ट्रपति की भूमिका संवैधानिक प्रधान की है, उसी तरह से उनके द्वारा नियुक्त राज्यपालों की हैसियत भी मात्र संवैधानिक अध्यक्ष की है। इस अवधारणा ने भी राज्यपालों की स्थिति को कमजोर बना दिया। सन् 1950 ई. से 1967 ई. तक राज्यपालों की भूमिका का अवलोकन करते समय इन तथ्यों को ध्यान में रखा जाना चाहिये।

यथार्थ में, राज्यों में राज्यपालों की स्थिति प्रभाव और सत्ता की दृष्टि से सुखद नहीं रही। कतिपय भूतपूर्व राज्यपालों ने स्वयं अपने शब्दों में इस संस्था की इस स्थिति का चित्रण किया है। भूतपूर्व राज्यपाल श्री प्रकाश के शब्दों में "मुझे पूरा विश्वास है कि मैं केवल संवैधानिक अध्यक्ष हूँ, जिसे छूटी हुई जगहों पर हस्ताक्षर करने के अलावा कुछ नहीं करना है।" वे आगे लिखते हैं कि "समय बीतने पर प्रत्येक व्यक्ति यह अनुभव करने लगा कि राज्यपाल शक्ति-हीन व्यक्ति होता है, जिसका प्रयोजन समारोहों और मनोरंजनों के स्थानों पर प्रदर्शन है।[5] पहले केन्द्र और राज्य सरकारों के बीच अधिकांश वार्ता राज्यपालों के द्वारा होती थी। मुख्यमंत्री विभिन्न मामलों पर उनकी सहायता पाने के लिए उत्सुक रहते थे। वे केन्द्र को अपने संदेश राज्यपालों के द्वारा ही भेजा करते थे। किन्तु, क्रमशः केन्द्र ने राज्य सरकारों से प्रत्यक्ष सम्बन्ध रखना प्रारम्भ कर दिया। वह राज्यपालों को, जिसकी उसने रचना की थी, भूल गया।"[6] महाराष्ट्र के राज्यपाल पद को सुशोभित करने वाली श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि "यदि कोई व्यक्ति इस पद को स्वीकार करता है तो उसको पद का नहीं, वेतन का आकर्षण है।" पश्चिमी बंगाल की राज्यपाल श्रीमती सरोजिनी नायडू ने राज्यपाल को "सोने के पिंजरे में बन्द चिड़िया" की संज्ञा दी। एक अन्य प्रसिद्ध राज्यपाल डॉ. पट्टाभिसितारमैया ने कहा कि राज्यपाल को राष्ट्रपति को पाक्षिक प्रतिवेदन भेजने के अतिरिक्त कोई सरकारी कामकाज नहीं करना पड़ता था।[7] इन उद्धरणों से यह बात स्पष्ट हो जाती है कि राज्यपालों के पास अपनी भूमिका के प्रभावशाली ढँग से निर्वाह करने सम्बन्धी अवसर नहीं थे। इतना ही नहीं, जब कुछ राज्यपालों ने प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू से अपने कार्यों को स्पष्ट रूप से परिभाषित करने का अनुरोध किया तो उनका उत्तर था कि राज्यपालों का कार्य "लोगों का स्वागत करना और उन्हें खुश करना है।" पंडित नेहरू की राज्यपाल पद के प्रति यह धारणा इस पद की वास्तविकता को उजागर कर देती है। डॉ. दिनेश चन्द्र चतुर्वेदी लिखते हैं कि "वस्तुतः 1950 ई. से लेकर 1967 ई. तक राज्यपाल इतने शक्तिहीन थे कि कुछ राज्यपाल स्वयं अपने भाग्य को कोसने लगे और वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि इस

पद का कोई महत्त्व नहीं है।"[8] निस्संदेह, राज्यपालों की संविधानिक स्थिति नाममात्र के अध्यक्ष की थी, और उन्हें राज्य की राजनीति और प्रशासन में महती भूमिका का निर्वाह करने की दिशा में पहल करने का अवसर नहीं था। प्रभावशाली भूमिका के अभाव में राज्यपाल सार्वजनिक विवाद के पात्र भी नहीं बने, और न ही उनके कार्य-कलाप व्यापक आलोचना के शिकार बने। इस तरह से यह पद सामान्यतः लोक-विवाद से अछूता ही रहा, यद्यपि कुछ मामलों में राज्यपालों के कार्यों की आलोचनाएँ भी हुईं।

सन् 1964 ई. से पहले राज्यपाल की केन्द्रीय अभिकर्त्ता की भूमिका अधिक मुखरित नहीं हुई, क्योंकि केन्द्र और राज्यों में एकदलीय शासन व्यवस्था विद्यमान थीं। जब केन्द्र और राज्यों में एक ही दल की सरकारें थीं तो राज्यपाल केन्द्र-राज्य सम्बन्धों की अन्तः क्रिया में अपना योगदान नहीं कर सके। इसके अतिरिक्त इन स्थिर सरकारों का नेतृत्व करने के कारण वे अपने को आदरणीय संवैधानिक अध्यक्ष तक ही सीमित कर बैठे। लेकिन यह बात उन राज्यपालों के बारे में सही नहीं थी जहाँ केन्द्र-राज्य सम्बन्धों में अन्तः क्रिया की समस्या एवं स्वयं राज्यों में ही गंभीर राजनैतिक समस्याएँ विद्यमान थीं।[9] जिन राज्यों में राजनीतिक अस्थिरता का वातावरण था, या गैर कांग्रेसी सरकारें विद्यमान थीं, वहाँ के राज्यपालों ने केन्द्रीय अभिकर्त्ता की भूमिका का पूरी तरह से निर्वाह किया। लेकिन ऐसे उदाहरण कम ही हैं। इसका प्रमाण इस बात से मिलता है कि सन् 1950 ई. से लेकर 1966 ई. तक के काल में छः राज्यों में दस बार और एक केन्द्रशासित प्रदेश में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। नेहरू-युग में केवल सात बार — पंजाब (1951), पेप्सू (1952), आन्ध्रप्रदेश (1954), ट्रावनकोर कोचीन (1956), केरल (1956) और (1959) और उड़ीसा (1961) में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया। सन् 1964-66 के काल में केरल में दो बार 1963 ई. और 1965 ई. में राष्ट्रपति शासन लागू किया गया, जबकि लालबहादुर शास्त्री प्रधानमंत्री थे।[10] इससे यह बात स्पष्ट हो जाती है कि 11 बार लगाये गये राष्ट्रपति शासन में से केवल 4 बार तो केरल में ही यह लागू हुआ। सन् 1959 ई. में केरल के राज्यपाल द्वारा साम्यवादी नेता ई.एम.एस.नम्बूद्रीपाद के नेतृत्व वाली साम्यवादी सरकार को बर्खास्त करने के निर्णय की देशव्यापी भर्त्सना हुई। कतिपय उदाहरणों को अपवाद के रूप में छोड़कर राज्यपालों की केन्द्रीय अभिकर्त्ता के रूप में भूमिका जनरोष का शिकार नहीं बनी।

इस काल में राज्यपालों के स्व-विवेकीय अधिकारों के प्रयोग की बहुत कम संभावना रह गई थी। कतिपय मामलों में राज्यपालों ने अपनी इन शक्तियों का प्रयोग किया। सन् 1952 ई. में मद्रास के राज्यपाल श्रीप्रकाश ने विधानपरिषद् के सदस्य चक्रवर्ती राजगोपालाचारी को राज्य का मुख्यमंत्री बना दिया। सन् 1957 ई. में उड़ीसा के राज्यपाल ने कांग्रेस विधानमंडलीय दल के नेता डॉ. हरिकृष्ण मेहताब को मुख्यमंत्री पद की शपथ दिलाई। सन् 1957 ई. में केरल के राज्यपाल ने राज्य की राजनीतिक-अस्थिरता को समाप्त करने हेतु पाँच निर्दलीय सदस्यों की राय जानने के बाद ही साम्यवादी दल के नेता ई.एम.एस.नम्बूद्रीपाद को शपथ दिलायी। इसी वर्ष राज्य के राज्यपाल ने राज्य-विधानमंडल

द्वारा पारित शिक्षा-विधेयक को राष्ट्रपति की अनुमति के लिए सुरक्षित करने हेतु राज्य मंत्रिमंडल से परामर्श नहीं किया। विपक्ष का आरोप था कि राज्यपाल ने कांग्रेस को राजनीतिक लाभ पहुँचाने के लिए ही अपनी स्व-विवेकीय शक्तियों का प्रयोग किया। इतना तो स्पष्ट है कि इन स्व-विवेकीय शक्तियों के प्रयोग से विपक्ष को राजनीतिक लाभ नहीं मिल सका,और सत्तारूढ़ कांग्रेस दल के राजनैतिक हितों की पूर्ति हुई।

इस युग में, समय-समय पर राज्यपालों ने न केवल अपनी सीमित भूमिका के प्रति असंतोष ही व्यक्त किया, अपितु सक्रिय राजनीति में प्रवेश करने के लिए इस पद से त्यागपत्र भी दे दिया। सन् 1956 ई. में उड़ीसा का मुख्यमंत्री बनने के लिए डॉ. हरिकृष्ण मेहताब ने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया। सन् 1964 ई. में प्रधानमंत्री पंडित जवाहरलाल नेहरू के देहावसान के बाद उत्तरप्रदेश के फूलपुर निर्वाचन क्षेत्र से संसद में प्रवेश पाने के लिए महाराष्ट्र की राज्यपाल श्रीमती विजयलक्ष्मी पंडित ने राज्यपाल पद से त्यागपत्र दे दिया।

उपर्युक्त विश्लेषण से यह स्पष्ट है कि इस काल में राज्यपाल संस्था अपनी शैशवावस्था में थी। देश में एकदलीय शासन व्यवस्था के प्रभुत्व ने राज्यपाल संस्था के संवैधानिक महत्त्व को सीमित कर दिया। सन् 1950 ई. से 1967 ई. तक की अवधि में राज्यपालों को 'संवैधानिक कठपुतलियाँ'[11] तक करार दे दिया गया। राष्ट्रीय महत्त्व के मामलों में उनकी कोई महत्त्वपूर्ण भूमिका नहीं थी। राज्यपालों की भूमिका पृष्ठभूमि की थी। राज्यपालों द्वारा सम्पादित किये जाने वाले अधिकांश कार्य पर्दे के पीछे संपन्न होते थे, अतः वे लोक-विवाद के विषय नहीं बने। इसके अलावा उनकी भूमिका उतनी गुरुतर नहीं थी, जितनी कि 1967 ई. के बाद बनी।[12] इस प्रकार से इस काल में राज्यपाल अपने औपचारिक संवैधानिक कार्यों को सम्पादित करते रहे। इस युग में राज्यपालों की भूमिका का अवलोकन करने से एक बात तो निर्विवाद रूप से कहनी ही पड़ेगी कि इस देश की संघात्मक व्यवस्था की स्थिरता और लोकतांत्रिक शासन पद्धति के संचालन में उनका सकारात्मक योगदान रहा है। राज्यपालों ने अपनी कार्य-शैली से राज्यों में संवैधानिक गत्यावरोध या टकराहट की स्थिति को जन्म नहीं दिया । इतना ही नहीं अनेक अवसरों पर तो उन्होंने अपने अहम् को चोट पहुँचाने वाले निर्णयों को भी इसलिए सहन किया कि इससे अवांछित संघर्ष की स्थिति उपस्थित नहीं हो। तत्कालीन भारतीय राजनीति की दिशा को देखते हुए यह भी स्वाभाविक ही था कि उनकी कार्यपद्धति पर भी दलीय राजनीति का प्रभाव पड़ता। राज्यपालों के द्वारा लिये गये निर्णय भी दलीय-राजनीति से अप्रभावित नहीं रह सके। उन्होंने केन्द्र में सत्तारूढ़ दल की कार्य-शैली से अलग स्वतंत्र मार्ग का निर्धारण नहीं किया। निस्संदेह,दलीय-व्यक्ति होने के कारण उन पर 'कांग्रेस-संस्कृति' का प्रभाव स्पष्ट रूप से देखा जा सकता है। राज्यों के संवैधानिक अध्यक्ष के रूप में उन्होंने औपचारिक भूमिका का ही निर्वाह किया,और यदा-कदा ही राजनीतिक पहल करने की भावना प्रदर्शित की। लेकिन यहाँ यह भी स्पष्ट रूप से कहा जा सकता है कि जब भी राज्यपालों को उनकी राज्य के संवैधानिक अध्यक्ष और केन्द्रीय प्रतिनिधि की भूमिका में से चयन करना पड़ा, उन्होंने अपनी द्वितीय भूमिका को ही महत्त्व प्रदान किया।

अन्त में, निष्कर्ष रूप से यही कहा जा सकता है कि इस युग में राज्यपालों ने मंत्रिपरिषद् के सलाहकार, मित्र और मार्गदर्शक की भूमिका का ही निर्वाह करते हुए अनावश्यक संवैधानिक विवादों से अपने को मुक्त ही रखा।

संदर्भ

1. बॉम्बवाल; के.आर; नेशनल पावर एण्ड स्टेट ऑटोनोमी, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1977) पृष्ठ, 66
2. दि इण्डियन एक्सप्रेस, मार्च 30, 1969
3. संथानम्, के., यूनियन-स्टेट रिलेशन्स इन इण्डिया;(एशिया पब्लिशिंग हाउस, नई दिल्ली, 1960) पृष्ठ, 61-62
4. हिन्दुस्तान टाइम्स, नई दिल्ली, अक्टूबर10, 1969
5. श्री प्रकाश; स्टेट गवर्नर्स इन इण्डिया; (मेरठ, 1916) पृष्ठ, 20-21
6. परमात्माशरण, डॉ. ; भारतीय शासन और राजनीति; (रस्तोगी पब्लिकेशन्स मेरठ, 1983) पृष्ठ, 305.
7. गुप्ता, डी.सी., भारतीय राष्ट्रीय आन्दोलन एवं संवैधानिक विकास, (विकास पब्लिशिंग हाउस प्रा.लि. नई दिल्ली, 1977) पृष्ठ, 688
8. चतुर्वेदी, डॉ. दिनेशचन्द्र; भारतीय शासन और राजनीति, (मीनाक्षी प्रकाशन, मेरठ, 1981) पृष्ठ, 187
9. गोयल, ओ.पी., इण्डिया गवर्नमेन्ट एण्ड पॉलिटिक्स(लाइट एण्ड लाइफ पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1979) पृष्ठ, 112
10. चन्द्रपाल, स्टेट ऑटोनोमी इन इण्डियन फेडरेशन, (दीप एण्ड दीप पब्लिशर्स, नई दिल्ली, 1984) पृष्ठ, 160
11. गुप्ता, डी.सी., उपर्युक्त, पृष्ठ669
12. गोयल,ओ.पी., उपर्युक्त, पृष्ठ, 114

अध्याय -12

नियुक्ति की राजनीति

राज्यपाल-संस्था के बारे में समय-समय पर जो विवाद उपस्थित हुए हैं, उनमें उनकी नियुक्ति सम्बन्धी विवाद को भी प्रमुख माना जाना चाहिए। संविधान सभा में राज्यपाल की नियुक्ति सम्बन्धी प्रावधानों का निरूपण करते समय बहुत ही गंभीरतापूर्वक विचार-विमर्श किया गया था। इस गहन विचार-विमर्श के बाद ही संविधान निर्माता इस निष्कर्ष पर पहुँचे थे कि निर्वाचित राज्यपाल के स्थान पर नामजदगी की प्रक्रिया के आधार पर ही राज्यपाल की नियुक्ति की पद्धति उपयुक्त रहेगी। संविधान-निर्माताओं द्वारा इस दृष्टिकोण को अपनाये जाने के पीछे निम्नलिखित कारणों को प्रमुख रूप से उत्तरदायी ठहराया जा सकता है — प्रथम, राज्यों पर संघीय-सर्वोच्चता को स्थापित करने के लिए भी यह अपरिहार्य था। द्वितीय, अगर राज्यों में निर्वाचित राज्यपालों की व्यवस्था की गई होती तो वे मुख्यमंत्रियों से सर्वोच्च सत्ता का उपभोग करने की स्थिति में आते। राज्यपाल और मंत्रिपरिषद् में संघर्ष की स्थिति रहती और यह मंत्रिमंडलीय सरकार के सिद्धान्त के विरुद्ध होता। उन्हें स्थानीय दलगत राजनीति से ऊपर रखने के लिए भी निर्वाचित राज्यपालों की व्यवस्था को ठीक नहीं समझा गया।[1] राज्यों में उत्तरदायी सरकार की स्थापना करने हेतु भी निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था सामयिक नहीं समझी गई थी। संविधान सभा के अनेक सदस्य ब्रिटिश-पद्धति के आधार पर ही राज्यपाल को औपचारिक संवैधानिक अध्यक्ष का स्तर प्रदान करना चाहते थे, जो कि निर्वाचित राज्यपाल की व्यवस्था करने से संभव नहीं था। तृतीय, नामजदगी की प्रक्रिया से ही अल्पसंख्यकों के हितों की सुरक्षा संभव थी। इस पद्धति से अल्पसंख्यकों के प्रतिष्ठित नेताओं को राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया जा सकता था। निर्वाचन की स्थिति में कोई भी अल्पसंख्यक नेता राज्यपाल का चुनाव जीतने में असफल रहता। चतुर्थ, संसदीय सरकार के सिद्धान्त को व्यवहार में सुचारु-रूप से क्रियान्वित करने के लिए भी नामजदगी के आधार पर राज्यपाल की नियुक्ति ही अधिक सही थी। अतः भारत के संविधान निर्माताओं ने निर्वाचित राज्यपाल की अवधारणा को अस्वीकार करते हुए उसके स्थान पर राष्ट्रपति द्वारा नामजद राज्यपाल की व्यवस्था को स्वीकार किया।

नियुक्ति का तरीका

भारतीय संविधान के अनुच्छेद 153 के अनुसार प्रत्येक राज्य के लिए एक राज्यपाल होगा, लेकिन एक ही व्यक्ति को एक से अधिक राज्यों के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया जा सकता है। अनुच्छेद 155 के अन्तर्गत राज्यपाल की नियुक्ति भारत के राष्ट्रपति द्वारा जारी किये गये अपने हस्ताक्षरयुक्त तथा मुद्रा-सहित अधिपत्र द्वारा की जाती है। लेकिन व्यवहार में, राज्यपाल की नियुक्ति प्रधानमंत्री और गृहमंत्रालय की सिफारिश पर ही राष्ट्रपति द्वारा की जाती है। दूसरे शब्दों में, यह कहा जा सकता है कि राज्यपाल की नियुक्ति में केन्द्रीय-मंत्रिपरिषद् और गृहमंत्री की महत्वपूर्ण भूमिका रहती है। स्वतंत्रता से लेकर अब तक राज्यपालों की नियुक्ति के सम्बन्ध में कुछ परम्पराओं को विकसित करने के प्रयत्न तो अवश्य किये गये, लेकिन उनका सदैव पालन नहीं किया गया। प्रथम, सन् 1967 ई. के पूर्व तक यह प्रथा विकसित हुई कि केन्द्रीय सरकार द्वारा राज्यपाल की नियुक्ति करने के पूर्व सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श अवश्य लिया जायेगा। इस काल में केन्द्र और सभी राज्यों में (कतिपय अपवादों को छोड़कर) कांग्रेस दल ही सत्ता में रहा, अतः केन्द्र द्वारा ऐसा करते समय औपचारिक रूप से अपने दल के मुख्यमंत्रियों से परामर्श करने में कभी कठिनाई अनुभव नहीं की गई, लेकिन सन् 1967 ई. के बाद भारतीय राजनीति से कांग्रेस का यह एकाधिकार समाप्त हो गया। केन्द्र में कांग्रेसी सरकार और अनेक राज्यों में गैर कांग्रेसी सरकारों के सत्तारूढ़ होने के कारण राज्यपाल पद को अनायास ही विशिष्ट महत्त्व प्राप्त हो गया। राज्यपाल-पद को लेकर केन्द्र और राज्यों के बीच अवांछित दबावों और संघर्ष की स्थिति उत्पन्न हुई। इस स्थिति में यह सबसे महत्त्वपूर्ण प्रश्न उत्पन्न हुआ कि क्या केन्द्रीय सरकार राज्यपालों की नियुक्ति में सम्बन्धित राज्य सरकार से सलाह या परामर्श ले या उससे सहमति प्राप्त करे। इसी मूल प्रश्न को लेकर अनेक प्रकार के अवांछित संघर्ष और संविधान के उपबन्धों का मनचाहा अर्थ लगाने की प्रवृत्ति का विकास हुआ।[2] गैर कांग्रेसी मुख्यमंत्री केन्द्र द्वारा उनकी सलाह के बिना नियुक्त किये जाने वाले राज्यपालों को 'थोपे हुए राज्यपाल' मानकर उनका विरोध करने लगे। केन्द्रीय सरकार ने भी राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श करने की नीति का परित्याग कर दिया। सन् 1967 ई. के पहले अपवाद रूप में ही एक-दो उदाहरण देखने को मिलते हैं, जबकि राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श नहीं लिया गया था। मद्रास के राज्यपाल के रूप में श्रीप्रकाश, और उड़ीसा के राज्यपाल के रूप में कुमारास्वामी की नियुक्ति के समय सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों ने कहा था कि ऐसा करते समय उनसे सलाह नहीं ली गई थी।[3] लेकिन सन् 1967 ई. के बाद तो केन्द्र और गैर कांग्रेसी राज्य सरकारों के बीच यह विवाद प्रमुखता के साथ उभर कर सामने आया। केन्द्र और राज्यों के बीच आरोप-प्रत्यारोप की राजनीति का विकास हुआ।

राज्यपालों की नियुक्ति में मुख्यमंत्रियों से परामर्श नहीं

अनेक राज्यों में राज्यपालों की नियुक्ति करते समय सम्बन्धित राज्यों के मुख्यमंत्रियों से परामर्श नहीं किया गया। सर्वप्रथम सन् 1967 ई. में यह विवाद हरियाणा में केन्द्रीय

सरकार द्वारा बी.एन. चक्रवर्ती की राज्यपाल के रूप में नियुक्ति करने के साथ आरम्भ हुआ। राज्य में दलबदल के कारण भगवतदयाल शर्मा के नेतृत्व वाली कांग्रेसी सरकार का पतन हुआ। उनके स्थान पर राव वीरेन्द्रसिंह ने विपक्षी दलों के साथ मिलकर राज्य का प्रथम गैर कांग्रेसी मंत्रिमंडल बनाया। इस गैर कांग्रेसी सरकार और केन्द्र की कांग्रेसी सरकार के बीच राज्यपाल की नियुक्ति को लेकर कटुतापूर्ण वातावरण बन गया। तत्कालीन मुख्यमंत्री राव वीरेन्द्रसिंह ने राज्यपाल के रूप में बी.एन.चक्रवर्ती की नियुक्ति का विरोध करते हुए केन्द्रीय सरकार से यह अनुरोध किया कि वह राज्यपाल-पद पर नियुक्त किये जाने वाले दो-तीन व्यक्तियों का "पैनल" बनाये, जिसे केन्द्र ने अस्वीकार कर दिया।[4] केन्द्रीय सरकार ने राज्यपाल की नियुक्ति हेतु एक ही व्यक्ति का 'पैनल' तैयार करते हुए मुख्यमंत्री के प्रबल विरोध के बावजूद भी चक्रवर्ती की राज्यपाल-पद पर नियुक्ति कर दी। द्वितीय, पंजाब के मामले में भी ऐसा ही हुआ। सन् 1967 ई. के बाद कांग्रेस के राज्य विधानसभा में बहुमत प्राप्त करने में असफल रहने पर प्रमुख जाट-सिक्ख नेता सरदार गुरनामसिंह ने अकाली-जनसंघ संविद के मुख्यमंत्री के रूप में शपथ ली। मुख्यमंत्री ने राज्य के राज्यपाल-पद पर नियुक्त करने हेतु केन्द्र द्वारा प्रस्तावित दो व्यक्तियों के 'पैनल' का अनुमोदन नहीं कर के इस पद पर नियुक्त करने हेतु कुछ अन्य नाम प्रस्तावित किये, जिसे केन्द्र ने स्वीकार नहीं किया।[5] केन्द्रीय सरकार द्वारा अपनी इच्छा से ही राज्यपाल की नियुक्ति की गई। डॉ. डी.सी. पावटे को पंजाब के राज्यपाल के रूप में नियुक्त किया गया। हरियाणा और पंजाब, दोनों में ही पूर्व कांग्रेसजनों को राज्यपाल-पद पर नियुक्त किया गया। उत्तरप्रदेश में भी यही नीति अपनाई गई। सन् 1967 ई. में दलदबल के कारण राज्य में चन्द्रभानु गुप्त के नेतृत्व वाली कांग्रेस सरकार ने त्यागपत्र दे दिया। चौधरी चरणसिंह के नेतृत्व में प्रथम गैर कांग्रेसी संविद सरकार राज्य में सत्तारूढ़ हुई। केन्द्रीय सरकार द्वारा इस नई गैर कांग्रेसी सरकार से सलाह लिये बिना ही गोपाल रेड्डी को राज्य के राज्यपाल के रूप में नियुक्त करने की घोषणा की गई। केन्द्रीय सरकार के इस निर्णय की संसद में तीव्र आलोचना हुई। विपक्षी सदस्यों का तर्क था कि ऐसा करते समय केन्द्रीय सरकार को नई सरकार के सत्तारूढ़ होने तक प्रतीक्षा करनी चाहिए थी, और नई सरकार द्वारा साथ परामर्श करने के बाद ही ऐसा निर्णय लेना चाहिए था। तत्कालीन गृहमंत्री यशवन्तराव चव्हाण ने लोकसभा में एस.एम. बनर्जी द्वारा यह पूछे जाने पर कि क्या राज्यपाल की अंतिम रूप से नियुक्ति करने से पूर्व मुख्यमंत्री चरणसिंह से परामर्श लिया जायेगा, उन्होंने स्पष्ट शब्दों में कहा था कि उनसे इस बारे में कोई परामर्श नहीं लिया जायेगा। केन्द्रीय सरकार की राज्य के मुख्यमंत्री से परामर्श लिये बिना ही राज्यपाल की नियुक्ति की घोषणा ने राज्य में राज्यपालों की नियुक्ति की नवीन परम्परा को उजागर कर दिया। सन् 1967 ई. के बाद बिहार में राज्यपाल अनन्तशयनम् आयंगर की पद-निवृत्ति के बाद नये राज्यपाल की नियुक्ति का जटिल प्रश्न उपस्थित हुआ। राज्य के मुख्यमंत्री महामायाप्रसाद सिन्हा तत्कालीन राज्यपाल आयंगर के कार्यकाल को मार्च, 1968 ई. तक बढ़ाना चाहते थे।[6] केन्द्रीय सरकार ने ऐसा करने से इन्कार करते हुए नित्यानन्द कानूनगो